विपाशा

हिमाचल प्रदेश के भाषा एवं संस्कृति विभाग की त्रैमासिक पत्रिका

मुख्य पृष्ठ : दानो घाट (ज़िला सोलन) स्थित प्राकृतिक प्रस्तर, छाया : बद्रीसिंह भाटिया

ऊपर का चित्र : पिंडारी ग्लेशियर छाया : डॉ. अशोक जेरथ

tharahkardu.in

विपाशा

साहित्य, संस्कृति एवं कला की द्वैमासिकी
वर्ष-7 अंक-40, सितम्बर-अक्तूबर, 1991

मुख्य संपादक
सी.आर.बी. ललित
निदेशक, भाषा एवं संस्कृति, हि. प्र.

संपादक
तुलसी रमण

संपर्क : संपादक-विपाशा, भाषा एवं संस्कृति विभाग, हि. प्र.
त्रिशूल, शिमला-171003 दूरभाष : 3669, 6846,

वार्षिक शुल्क : दस रुपये, एक प्रति : दो रुपये

क्रम

3. पाठकीय
5. संपादकीय
7. निधि : **राजकमल चौधरी**
9. युग यथार्थ और रूढ़ियों के संघर्ष का नायक : **डॉ. देवशंकर नवीन**
19. राजकमल की स्वीकारोक्तियाँ
21. राजकमल के बारे में
24. राजकमल चौधरी की रचनाएँ

साक्षात्कार

29. सोमदत्त का सहज संसार : **महावीर अग्रवाल**

कहानी

37. एक अधूरा लफ्ज़ : **राजीव ई. सिंह**
47. उसकी वापसी : **देवेन्द्र चौबे**

भाषांतर/देशांतर

54. दीवारें (बंगला कहानी) : **गौतम सान्याल**
58. खुशी (उज़बेक कहानी) : **उल्कुर खाशीमोव**

कविता

63. तीन कविताएँ : **सतीश धर**
66. चार कविताएँ : **प्रमोद कौंसवाल**
70. मल्हार : तीन कविताएँ : **उषा व्यास**

समीक्षा

72. नारी जीवन का संताप : **श्रीनिवास श्रीकांत**
74. तीन भाषाओं में एक साथ : **सीताराम ठाकुर**

शोध/संस्कृति

75. वेद और हिमाचल : **डॉ. पद्मचंद्र काश्यप**
83. अद्वैत शैव दर्शन और आचार्य अभिनव गुप्त : **डॉ. जगदीश शर्मा**
87. उत्सर्गमयी मुद्राओं के कहानीकार 'द्विज' : **डॉ. कांतिकुमार**

आयोजन

91. कुल्लू का दशहरा : **डॉ. सूरत ठाकुर**
94. नाहन में हिन्दी दिवस : **कर्नल नेगी**
96. आवरण के चित्र

रचनाओं में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं, इनमें संपादकीय सहमति आवश्यक नहीं। सं.

पाठकीय

अनुपम कौल, रिहाड़ी कालोनी, जम्मू

एक दिन मालरोड़ पर अखबार वाले के पास रुक कर अखबार खरीदने को बढ़ा कि सहसा 'विपाशा' पत्रिका पर दृष्टि पड़ी। झट से दुकानदार से अंकों के बारे में पूछताछ की। परन्तु दो ही अंक 34, 35 मिले और अनायास ही खरीद लिए। अखबार को भूल अपना शेष समय इन दो अंकों को पढ़ने में व्यतीत किया। 'विपाशा' के दोनों अंक आकर्षण भरे हैं। साज-सज्जा बेहद पसंद आयी और मुद्रण भी अच्छे ढंग का है। पठन सामग्री तो विद्वत्जन ने बड़े कठोर परिश्रम से हमारे समक्ष रखी है। अतः वे सब धन्यवाद के पात्र हैं। अंक 34 में डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय का 'भारतीय साहित्य की परम्परा' लेख पढ़कर भारतीय संस्कृति तथा राष्ट्रीय एकता का विशेष समन्वय मिलता है।

वीरबल शर्मा, मंडी बाज़ार हि. प्र.

विपाशा का अंक 38 प्राप्त हुआ। महसूस हुआ कि दो वर्ष पूर्व की विपाशा और आज (अंक 38 तक) की विपाशा ने न केवल लम्बा फासला (धीमे-धीमे) तय किया है बल्कि सोवियत संघ की तरह एक परिवर्तन की चेष्टा भी की है। संपादक गण निश्चित रूप से बधाई के पात्र हैं। विपाशा पर पूर्णतया हिमाचली संस्कृति का रंग डोलने लगा है। इसमें चाहे लेखों की बात हो या फिर चित्राकंन या छायाकंन की, संस्कृति की महक एकदम स्पष्ट होने लगी है। चल रहे अंक या इससे पूर्व के अंक इस बात का सबूत बनते जा रहे हैं कि विपाशा को हिमाचल की संस्कृति से ओत-प्रोत करना इसके राष्ट्रीय महत्व को कदापि कम नहीं करता। महसूस होने लगा है कि पत्रिका पर प्रदेश के लोक जीवन का आधिपत्य है जिसे राष्ट्रीय स्तर पर प्रसारित करने का जिम्मा विपाशा पर है। अंक 38 में छपे छाया चित्रों का विवरण देना इसके बढ़िया स्वरूप में एक और अच्छा प्रयास है यानि बढ़िया से दो कदम आगे . . . । साज-सज्जा भी अच्छी हो गई है। पुरातत्व पर ध्यान दिया जा रहा है यही काफी नहीं है, इसको संरक्षित करने का आह्वान करते लेख भी स्वीकारें और जगह दें, क्योंकि इस अमूल्य धरोहर को बचाने की चेतना तो लेखक ही पैदा कर सकता है। क्या ही अच्छा हो अगर अब बासीपन खत्म हो जाये यानि विपाशा की स्पीड कुछ सुधर जाये। आखिर कोई ला-ईलाज बीमारी तो नहीं है यह।

अनु अरोड़ा, चण्डीगढ़

विपाशा के दो अंक (38-39) पढ़ने को मिले। इससे पूर्व अंक 34 व अंक 35 पढ़ने को

मिले थे। तब से विपाशा का बराबर इन्तज़ार रहता है। भविष्य में इसे नियमित रूप से पाने की इच्छा है। इसमें छपी रचनाएँ व लेख मस्तिष्क पर एक अमिट छाप छोड़ जाते हैं।

अब तक काफी पत्रिकाएँ पढ़ीं और देखीं किन्तु विपाशा उन सब में अपना अलग स्थान रखती है। एक स्तरीय पत्रिका होने का आभास दिलाती है। सम्पादन क्षमता का बोध करवाती है। इसकी साज-सज्जा व आकर्षण को देखकर कोई भी इसे पढ़ने के लिए बेताब हो उठेगा। अंक 38 तथा 39 में प्रकाशित 'यशपाल' तथा 'मोहन राकेश' पर लिखे लेखों ने काफी प्रभावित किया। कहानियों एवं कविताओं का चयन भी अच्छा है उस पर हिम कुमार चटर्जी के रेखांकनों से हिमाचल के किन्नौर जिले के मन्दिरों को क्रमशः छाप कर विपाशा को और भी अर्थपूर्ण बना दिया है।

सीमित पृष्ठों में भी पत्रिका हिमाचल का भ्रमण करा देती है। इस पत्रिका के आवरण कलात्मक होते हुए भी अपने आप में एक सादगी लिए हुए हैं।

अमित कुमार, पटियाला

एक साथ विपाशा के दोनों अंक 38 तथा 39 पढ़ने को मिले। अच्छे लगे। अंक 38 का आवरण अंक 39 के आगे कुछ फीका-सा पड़ गया है। अंक 38 की सामग्री रोचक है फिर भी जहाँ तक मैं समझता हूँ आज के ज़माने के लिहाज़ से बाहरी पहरावा भी आकर्षक होना चाहिए। किन्तु फिर भी अंक 39 ने इस कमी को पूरा कर दिया है। लेकिन आप से विनती है कि पूर्व अंकों की भांति (अंक 38 आदि) यदि सामग्री के साथ-साथ आप आवरण पृष्ठों पर भी विशेष ध्यान दें तो अधिक अच्छा रहेगा।

वास्तव में मैं हिमाचल प्रदेश के ही शिमला ज़िले का निवासी हूँ। यहाँ पढ़ाई के सिलसिले से आया हूँ। अपने प्रदेश के भाषा-संस्कृति विभाग की इस द्वैमासिक हिन्दी पत्रिका 'विपाशा' को देखकर व पढ़कर ऐसा आभास होता है कि घर से कोसों दूर हो कर भी मैं अपने हिमाचल की वादियों में ही भ्रमण कर रहा हूँ।

हरि सिंह, शिमला

मालरोड पर घूमते अचानक 'नेशनल बुक डिपो' में 'विपाशा' का अंक-39 दिखाई पड़ा। बाहरी आवरण पर बने रेखांकन ने प्रभावित किया और हाथ बरबस उसे उठाने के लिए आतुर हो उठे।

प्रफुल्ल कुमार की कविताओं, डा. नरेश की कहानी 'पाँच का नोट' तथा बद्री सिंह भाटिया की कहानी 'तबादला' और यशपाल पर लिखे लेख ने काफी प्रभावित किया।

हिमाचल की संस्कृति को करीब से जानने का 'विपाशा' एक अच्छा माध्यम है। मैं इसका ग्राहक बन कर हिमाचल के बारे में और अधिक ज्ञान अर्जित करना चाहता हूँ। उम्मीद है भविष्य में भी इसी प्रकार की रोचक, आकर्षक एवं ज्ञानवर्धन सामग्री पढ़ने को मिलेगी।

संपादकीय

काल प्रवाह में जीवन यथार्थ

राजकमल चौधरी आधुनिक हिन्दी कविता की विकास-यात्रा में 'अकविता' के दौर में अपनी सृजनात्मक बेचैनी के साथ महत्वपूर्ण कवि के रूप में आते हैं। अमरीका के 'विटनिक' (पराजित) कवियों और बंगला की 'भूखी पीढ़ी' के साथ ही हिन्दी साहित्य में कविता का एक ऐसा मोड़ आया जिसने 'अकविता आंदोलन' का स्वरूप ग्रहण किया। इस आंदोलन में शामिल कवियों की रचनाओं में जीवन की वास्तविकता की पड़ताल इस हद तक पहुँच गई थी कि असंगति, अराजकता और अकेलेपन को जीवन मूल्य या जीवन की नियति के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा था।

रचना से जीवन के प्रति जिस सकारात्मक लगाव और उससे जुड़े सार्थक संघर्ष की जो अपेक्षा की जाती है—वह सब ऐसी स्थिति में पीछे छूट जाता है। अकविता को एक काव्य आंदोलन के रूप में स्वीकार करने वाले कुछ आलोचकों ने जहाँ इसे 'नई कविता की चरम परिणति, जिजीविषा, मृत्यु का अस्वीकार तथा मृत्यु के आतंक की सफल अभिव्यक्ति' माना, वहीं श्री धर्मवीर भारती जैसे वरिष्ठ साहित्यकारों ने 'देह की राजनीति, अराजनीति की राजनीति और नंगई' कहकर इसका तीव्र विरोध भी किया।

अंततः एक ऐसी स्थिति भी आई कि अमर्यादित नग्नता और असंगत उक्तियों की बहुतायत के रहते 'अकविता' को हिन्दी कविता के एक काले अध्याय के रूप में इतिहास में छोड़ दिया गया। लेकिन यहाँ आकर हम देखते हैं कि अकविता आंदोलन से जुड़ जाने के बावजूद राजकमल चौधरी अक्सर इससे अलग भी दिखाई देते हैं। अपनी सृजनात्मक बेचैनी में अपने समय का यह प्रखर कवि मृत्यु के बीच जीवन की अनिवार्यता, सौंदर्य और जिजीविषा को पहचानता है। सामाजिक दायित्व और सामाजिक प्रतिबद्धता को स्वीकारते हुए पुरानी पड़ी धारणा और व्यवस्था से मुक्त होना चाहता है। उसकी असहमति 'अकविता' के अन्य कवियों से भिन्न स्तर की है। जीवनानुभवों के फलस्वरूप उसके भीतर विद्रोह की जो भावना घर कर गई थी वह जीवन से पलायन के लिए नहीं अपितु जीवन जीने के लिए थी। लेकिन बहुधा हम देखते हैं कि इस विद्रोह की तीव्रता सीमाएँ स्वीकार नहीं करती। सीमाओं और मर्यादाओं के अस्वीकार के रहते ही वह उन्मुक्त भी होता गया है।

इस सबके बावजूद राजकमल चौधरी की ईमानदारी देखने वाली है। उसके जीवन व्यवहार या यथार्थ अनुभव और रचनागत अभिव्यक्ति में कतई अंतर नहीं दिखाई पड़ता। जैसे अपने को

जीवन की भट्ठी में तपाकर ही सृजन की ललक उसमें थी। केवल भौतिक रूप में जीने से आगे बढ़कर मनुष्य जीवन को काल के समग्र प्रवाह में देखने की आकांक्षा थी—

केवल वर्तमान में जीते हैं अब समस्त प्रजाजन
मर जाते हैं अतीत में और भविष्य में मर जाते हैं
भीड़ जुलूस लाठी-चार्ज जन आंदोलन
आम सभाओं के श्रोता वक्ता भोक्ता
गेहूँ के सिवा कोई बात नहीं करते

राजकमल चौधरी की लम्बी कविता 'मुक्ति-प्रसंग' ने निःसंदेह काव्य जगत् को आंदोलित किया है। घोर संकट ग्रस्त जीवन में मृत्युबोध की तीव्रता के रहते भी जीवन की इच्छा बराबर बनी हुई है। इस अन्तर्द्वन्द्व की रीढ़ पर रची गई यह कविता सर्जनात्मक प्रतिभा और शैलीगत विशिष्टता के साथ राजकमल की प्रतिनिधि रचना है।

इस अंक के 'निधि' स्तंभ में राजकमल के जीवनानुभवों और कृतित्व का परिचय देती सामग्री दी गई है। एक लेख के साथ इस सामग्री को डॉ. देवशंकर 'नवीन' ने प्रस्तुत किया है, जिन्होंने राजकमल पर शोध भी किया है।

समकालीन हिन्दी कविता में सोमदत्त के नाम से सब परिचित हैं। गत वर्षों में 'साक्षात्कार' के संपादक के रूप में भी उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और अपने समय की साहित्यिक चिंताओं और गतिविधियों से बराबर जुड़े रहे। लगभग दो वर्ष पूर्व उनके निधन पर विपाशा में कुछ सामग्री दी गई थी। लेकिन एक छोटा-सा 'साक्षात्कार' हमारे पास शेष था। महावीर अग्रवाल उसी साक्षात्कार को कुछ संस्मरणात्मक टिप्पणियों के साथ प्रस्तुत कर रहे हैं।

दो युवा कथाकारों की कहानियों के साथ इसी अंक में बंगला तथा उज़बेक कहानियों के अनुवाद भी शामिल हैं और कुछ युवा कवियों की कविताएँ और पुस्तक समीक्षाएँ दी गई हैं।

'वेद और हिमाचल' शीर्षक डॉ. पद्म चंद्र काश्यप के शोध लेख का दूसरा और समापन खंड इस अंक में सम्मिलित है। विद्वानों से इस लेख पर बहस का आमंत्रण हमने पिछले अंक में भी किया था। जो लोग इसमें शामिल होंगे वे निश्चित रूप से इस विषय को अधिक स्पष्टता और तर्क संगति तक पहुँचाने में हमारा सहयोग करेंगे।

विपाशा

निधि

राजकमल चौधरी

'आधुनिका' के राजकमल विशेषांक में शम्भुनाथ सिंह द्वारा प्रस्तुत राजकमल चौधरी की डायरी के अंश के आधार पर डॉ. कल्पना, इनका पूरा नाम बताती हैं—वीर विक्रम फूल बाबू राजा मणीन्द्र नारायण मधुसूदन दास चौधरी। उस डायरी के आधार पर पिता इन्हें वीर कहते थे। स्कूली दोस्तों के बीच ये फूल बाबू के नाम से जाने जाते थे। गया की वेश्याएँ इन्हें राजा तथा फूल राजा कहकर पुकारतीं थीं। सर्टिफिकेट में इनका नाम मणीन्द्र नारायण था। अपनी फरारी ज़िन्दगी इन्होंने मधुसूदन दास के नाम से शुरू की। ज्ञातव्य है कि मधुसूदन इनके पिता का नाम था। तत्पश्चात् इस नाम से इन्होंने कुछ लिखा भी। राजकमल चौधरी इनका पेन नेम था। और, इन्होंने खुद कहा है, कि "इस तरह यह साबित होता है कि मैं छः या सात अलग-अलग व्यक्ति हूँ।"

इसके अतिरिक्त इन्होंने वनलता सिंह, शशि चौधरी, मासूम अजीमाबादी आदि छद्म नामों से अनेक जगहों पर लिखा भी है। इनके मित्र सह काका श्री उपेन्द्र चौधरी कहते हैं कि कॉलेज जीवन में इन्होंने अपना नाम मणीन्द्र किरण, पुष्पतीर्थ, मणीन्द्र राजकमल आदि भी रखा था। घर में इनका नाम मणीन्द्र रखा गया और विद्यालय की प्रवेश पुस्तिका पर लिखा है—मणीन्द्र नारायण चौधरी।

जीवन परिचय :

जन्म तिथि — 13.12.1929
जन्म स्थान — रामेपुर हवेली, जिला-सहर्षा, बिहार (यह गाँव राजकमल की ननिहाल है)
पितृ-ग्राम — महिषी, सहर्षा, बिहार
शिक्षा — बी. कॉम.
पेशा — कुछ दिनों तक सचिवालय (पटना) में नौकरी, फिर त्याग-पत्र, फिर स्वतंत्र लेखन, सम्पादन, भ्रमण. . .।
प्रवास — अधिकांशतः कलकत्ता में, शेष मसूरी हिल एवं पटना में, भ्रमणशील सर्वत्र।
पत्नी — शशिकान्ता चौधरी (सम्प्रति महिषी में रहती हैं)
सन्तान — दिव्या एवं मुक्ता—दोनों विवाहित और ससुराल में रहती हैं। पुत्र नीलमाधव, पटना विश्वविद्यालय से एम. ए. कर रहे हैं।
पिता — स्व. मधुसूदन चौधरी
मृत्यु — 19.06.1967

कृतियाँ :

हिन्दी में पुस्तकाकार– मछली मरी हुई, नदी बहती थी, देहगाथा, शहर था शहर नहीं था, अग्नि स्नान, बीस रानियों का बाइस्कोप, एक अनार एक बीमार, ताश के पत्तों का शहर (उपन्यास); चौरंगी (मूल लेखक शंकर के बंगला उपन्यास का अनुवाद); सामुद्रिक और अन्य कहानियाँ, मछली जाल (कथा संग्रह); मुक्ति प्रसंग, कंकावती (कविता) आदि।

मैथिली में पुस्तकाकार– आन्दोलन, आदिकथा, पाथर फूल (उपन्यास); ललका पाग, निरमोही बालम हम्मर, कृति राजकमलक, एकटा चम्पाकली एकटा विषधर (कथा संग्रह), स्वरगंधा, कविता राजकमलक (कविता) आदि।

पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित रचनाएँ – हिन्दी में बानवे कहानियाँ, एक सौ इक्कीस कविताएँ, पचपन निबन्ध-आलोचना, तीन नाटक, पाँच स्तम्भ लेखन तथा मैथिली में छत्तीस कहानियाँ, सत्तावन कविताएँ, चार निबंध आलोचना, दो प्रहसन-एकांकी प्रकाशित हैं।

लगभग साठ-सत्तर, कविताएँ हिन्दी में तथा एक रेडियो रूपक मैथिली में अप्रकाशित हैं।

युग यथार्थ और रूढ़ियों के संघर्ष का नायक

❑ डॉ. देवशंकर नवीन

. . . . . दीर्घकालिक उपेक्षा प्राणी ही नहीं निर्जीव तक में अक्ड़पन और वहशीयत भर देती है। उपेक्षा मनुष्य को बदमिजाज, अशिष्ट, मुँहफट बनाती है, पशु-पक्षी को मरखाह और मतवाला बनाती है, यहाँ तक कि सड़क के किनारे पड़े पत्थर के टुकड़ों को भी ज़्यादा तीखा, खुरदरा नुकीला, धारदार और श्रीहीन बनाती है. . . . फिर राजकमल चौधरी तो मनुष्य थे. . . .।

आवश्यकताएँ और अभिलाषाएँ मनुष्य को जिज्ञासु बनाती हैं और अभाव बनाता है प्रौढ़। प्रतिभा, जिज्ञासा और अभाव के इसी त्रिभुज में सध कर व्यक्ति अन्य सीमाओं और संगठनों से कटता है। और, इस कदर परिश्रमी और प्रतिभाशाली व्यक्ति भीड़ से कटकर अपनी मान्यताओं की सीमा में, अपनी अवधारणाओं के परिवेश में जीना शुरू करता है। सामाजिक संगठनों के, पारिवारिक बन्धनों के जिस षड्यन्त्र में अभाव की ये ज्वालाएँ उपजती हैं, उपेक्षाओं के ये तीर बनते हैं; उस षड्यन्त्र से मुक्त होने के लिए लोग आतुर हो जाते हैं। राजकमल में यही आतुरता समय पाकर भर गई थी। उपेक्षा और अभाव, राजकमल की ज़िन्दगी का पर्याय बन गया था—यह साबित करने के लिए दृष्टान्तों का अभाव नहीं रहेगा, इनकी डायरी के पन्ने इसे साबित करने को यथेष्ट होंगे। समाज व परिवार की सीमाओं से स्वतन्त्र होकर, समाज के नियम-कानूनों से एकदम मुक्त होकर, निडर, अक्खड़ और रुखड़ा होकर जीना भी इन्होंने बहुत ही ठोस कारणों से प्रारम्भ किया—यह प्रमाणित करने के लिए भी असंख्य उदाहरण हैं।

मैं इन मुद्दों को उठाकर यह नहीं प्रमाणित करना चाहता कि प्रतिभाशाली व्यक्ति को अशिष्ट होना आवश्यक है। मेरा मतलब राजकमल चौधरी पर लगाई गई उन तोहमतों से है जिन्हें लोगों ने पूर्वाग्रह के समुद्र में उब-डुब करते हुए थोपा था अथवा अपनी अक्षमता व पुंसत्वहीनता के कारण, उनके जैसा कुछ नहीं कर पाने की कायरता, अशक्यता के कारण फैलाया था। सच्ची बात यह है कि आज भी, जब कि इन्हें गुजरे चौबीस वर्ष बीत गए हैं, इनकी समालोचना कम हो रही है। यदि पत्रिकाओं के विशेषांकों का लेखा-जोखा किया जाय तो प्रेमचंद को छोड़कर शायद ही कोई ऐसे भारतीय रचनाकार हों, जिन पर इतने विशेषांक आए होंगे। फिर भी समालोचनाएँ कम आई हैं। या तो इनके चारित्रिक पक्ष के बारे में प्रचारित भ्रान्तियों के आधार पर लोग इनकी निन्दा करते हैं या नई पीढ़ी के लोग अंधाधुन्ध इन्हें मसीहा मानते हैं। यह कहकर मैं अपना यह दावा भी नहीं पेश करना चाहता कि इनके साहित्य और जीवन का सबसे ईमानदार और समर्थ आलोचक मैं ही हूँ। बल्कि, मैं यह कहना

चाहता हूँ कि परिवार और समाज से प्राप्त इस उपेक्षा और अभाव तथा विरासत में प्राप्त प्रतिभा के सम्मिश्रण से जो दृष्टि राजकमल ने प्राप्त की उसका कुछ अंश में तो सदुपयोग किया, लेकिन दुरुपयोग भी कम नहीं किया। सदुपयोग और दुरुपयोग अपेक्षाकृत निजी मान्यताओं के ताने-बाने से समझा जाता है। सम्भव है कि राजकमल से सम्बद्ध जिन घटनाओं को मैं दृष्टि और प्रतिभा का दुरुपयोग कहता हूँ, वह उनकी विवशता रही हो और उस विवशता के लिए राजकमल कम तथा समाज अधिक उत्तरदायी रहा हो। लेकिन यह भी कम तर्क की बात नहीं कि जिन कारणों से व्यक्ति व्यथित होकर आत्महंता हो जाता है, उन से तटस्थ होकर उसे भुलाने की कोशिशें करने लगता है, व्यथा की उस ज्वाला में अपने को जलाकर राख करने का प्रयास करने लगता है; जबकि स्वस्थ और समर्थ होकर उससे लड़ना कहीं अधिक श्रेयस्कर है। यहाँ यह सदुपयोग और दुरुपयोग का मामला राजकमल के सृजन और जीवन से क्रमशः सम्बद्ध है।

राजकमल ने हिन्दी व मैथिली में कविता, कहानी, उपन्यास, निबन्ध, आलोचना, रेडियो-रूपक पत्रिकाओं में स्तम्भ, व्यंग्य आदि खूब लिखा। दोनों भाषाओं की सभी विधाओं में प्रचुर प्रतिष्ठा मिली। बंगला और पश्चिमी साहित्य का अच्छा-खासा ज्ञान इन्होंने अर्जित किया। बंगला से हिन्दी में किया गया इनका अनुवाद, उस पुस्तक के मूल लेखन से अधिक प्रशंसित हुआ। अंग्रज़ी में भी लिखा, छपा। इन सारे तथ्यों के साथ यह बात बहुत ही ईमानदारी पूर्वक कही जानी चाहिए कि उन्होंने अपनी ज़िन्दगी के साथ घोर अन्याय किया। उनकी मौत असमय में आई नहीं, उन्होंने उसे बुलाया। इस मायने में यह बात साफ-साफ कही जाएगी कि जीवन के समस्त स्रोतों से उन्होंने जो दृष्टि अर्जित की थी; जीवन-पक्ष को आवंटित उसके अंश का उन्होंने दुरुपयोग किया। दुर्व्यसन और असंयम के कारण ही ये आत्महंता साबित हुए। किसी रचनाकार की ज़िन्दगी, मात्र उनकी अपनी ज़िन्दगी नहीं होती है—जैसा कि उन्होंने खुद भी स्वीकारा है—रचनाकार सामान्य प्राणियों से कुछ भिन्न होते हैं, वे जनसामान्य की आँख होते हैं; उसकी चेतना होते हैं—अस्तु, उन्हें अपनी ज़िन्दगी पर केवल अपना आधिपत्य नहीं होता है। यदि वे अपनी ज़िन्दगी के साथ बेरहमी बरतते हैं, तो यह निश्चित रूप से कहना होगा कि वे जनसामान्य की दृष्टि और उसकी चेतना के साथ अपराध कर रहे हैं। उन्होंने अपनी ज़िन्दगी के साथ खिलवाड़ किया, कहा जायेगा कि इस स्तर पर वे अपराधी साबित होते हैं। यह बात भिन्न है कि इसी समुदाय के कुछ लोगों ने यह भी कहा—"अच्छा हुआ साला मर गया। पूरी न्यू राइटिंग को करप्ट कर रहा था. . . . ।"

प्रेम, प्रतिष्ठा और ऐश्वर्य—इन तीनों में मनुष्य अपने से आगे किसी को देखना नहीं पसन्द करता है। सृजन के स्तर पर प्राप्य प्रतिष्ठा और ऐश्वर्य में राजकमल ने जिन लोगों को बौना बना दिया, वे अपनी अक्षमता और पुंसत्वहीनता पर रोने के बजाय उनसे ईर्ष्या कर गाली न दें तो और क्या करें? यह भी एक षड्यन्त्र ही था, जो लेखक वर्ग से पाठक वर्ग तक फैला था। कभी कहीं यह भी देखा गया कि सृजन और मनन दोनों से ही पृथक् प्राणी में भी इनके विरुद्ध षड्यन्त्र चल रहे हैं। इसका खास कारण है कि राजकमल एक क्रान्तिकारी रचनाकार के साथ-साथ एक क्रान्तिकारी नागरिक के रूप में प्रतिष्ठित थे। सृजनात्मक रवैये के अतिरिक्त अभिक्रियात्मक घटनाओं की एक लम्बी सूची है जिसके तहत उन्होंने भ्रान्त रूढ़ियों का विरोध कर, उसे मिटाकर क्रियाशील जनता को अपाहिज होने से बचाया है। इन रूढ़ियों के नेपथ्य में सृजित-संचालित पारम्परिक षड्यन्त्र के सूत्रधारों को इनसे विरोध न हो तो और क्या हो?

अब एक प्रश्न अपना मस्तक उठाता है कि आखिर बात क्या है कि इतनी तरह के लोगों में इनका विरोध फैला। वस्तुतः परतन्त्र भारत में पैदा हुआ एक शिशु अपनी किशोरावस्था और तरुणावस्था बिताकर जब एक ही साथ अपनी युवावस्था और देश की आज़ादी प्राप्त करे तो उसके मन में स्वतन्त्रता की यान में लद कर आए सुख-सौरभ को देखने की ललक भरपूर रहती है। खुली हवा में सांस लेकर उन्मुक्त गगन के विहग-सा विचरण

करने की लालसा जगती है। जीवन को अपनी तरह जीने की तमन्ना रहती है। किन्तु, जब वही व्यक्ति कुलिशानुशासन की फिसलन युक्त रस्सी से खुलकर फिर मोटी जंजीर से बंध जाय, नियमों की पंक्तियाँ कुछ और लम्बी हो जाएँ, शास्त्रों की दुहाई देते हुए उनमें से सांस लेने के कायदे निकलने लगें—तो व्यक्ति का आजिज हो जाना स्वाभाविक है। मनुष्य आखिर मनुष्य होता है। उसकी सहनशील की सीमा होती है। सीमा पार करने के बाद वह निर्यात की दुहाई देकर अकर्मण्य होने को तैयार नहीं रहता, धर्म की असिधार पगडंडी पर अंधा होकर चलने को तैयार नहीं होता, ईश्वर की संप्रभुता पर आश्वस्त होकर अपनी शक्ति की अवहेलना नहीं करता। वह इस मोह से मुक्त होते ही दुनिया के तमाम व्याकरण, नियम, कायदे से मुक्त हो जाता है और इस परिस्थिति में उसका अपना आत्मदर्शन ही प्रबल होता है, जो उसे अपनी शक्ति से परिचित कराता है। आत्मदर्शन और अस्तित्व बोध की यही प्रक्रिया राजकमल के हृदय में सारा आलस्य त्यागकर सर्वांश स्फूर्ति से जगी। छद्म और वास्तविकता के बीच का फर्क भली-भाँति इनकी समझ में आ गया। रूढ़ियों के गर्भ में खौलता, पलता, बढ़ता षड्यन्त्र इनके सामने साफ होने लगा। ऐसे छद्म और षड्यन्त्र मुट्ठी भर लोगों के लिए सुविधाओं के टीले बनाने हैं और जनसामान्य के लिए समस्याओं और पीड़ाओं की खाई। मानवीय सम्बन्धों की ऐसी दरार की अनुभूति बटोरकर राजकमल ने साहित्य में प्रवेश किया। राजकमल की मान्यता थी कि मानव-शक्ति विशाल होती है। वह चाहे, तो एक-से-एक परिवर्तन कर सकता है। वह अपने ज्ञान और दर्शन के बल पर सृजन और संहार दोनों कर सकता है।

एक विचित्र बात है कि इन सारी शक्तियों का मालिक होने के बावजूद वह अपने ही बनाए अनाज और पानी के देवता से भीख माँगता है। वह जितना शक्तिशाली है, उतना ही उदार। इन देवताओं का चयन वही करता है, यह अनाज और पानी और तमाम सुविधाओं का उत्पादन अर्जन वही करता है और उसके उपभोग के लिए वही अनुमति माँगता है। वस्तुतः मनुष्य बहुत हद तक वीतराग और निरपेक्ष प्राणी होता है, जिस कारण उसकी संवेदनाएँ भोथरी हो जाती हैं। राजकमल ने यह आवश्यक समझा कम-से-कम अपनी शक्ति और अपना अस्तित्व समझने के लिए इन नागरिकों को जगाया जाए। इस जागरण का सबसे सही तरीका होगा युग यथार्थ का साहित्य-सृजन। साहित्य, जिसमें काल्पनिक सत्य और बीते हुए मूल्यों की अपेक्षा वर्तमान यथार्थ, युगीन जनजीवन अपने सच्चे स्वरूप में आए। अपनी दलित जीवन प्रक्रिया, अपनी दुर्दशा, अपनी यातना आदि के प्रति और इन तमाम पहलुओं के सृजक के प्रति उदासीन जनसमूह को अपने हाल पर छोड़ देना इन्हें भाया नहीं। इन्हें जगाना आवश्यक समझा। आदमी को आदमी और पशु को पशु बन कर रहते देखने की इनकी इच्छा बलवती हो उठी। आदमी को अपने अस्तित्व का बोध कराने का सर्वश्रेष्ठ माध्यम इन्हें साहित्य ही लगा। देश के जन प्रतिनिधि, शिक्षक, पत्रकार, उपदेशक, प्रशासक, पुलिस आदि सारे दमनकारी और शमनकारी तन्त्रों ने जनतन्त्र की रामनामी चादर ओढ़कर जनता के साथ छद्म और प्रपंच का सम्बन्ध स्थापित कर रखा था। ऐसी हालत में राजकमल, इस निरीह जनता को समर्थन, सहानुभूति और दृष्टि देने का सारा दायित्व साहित्यकारों पर ही सौंपते हैं। विद्रूपता और विसंगतियों के इस चरमोत्कर्ष पर साहित्य को भावनाओं का माया-जाल बनाना, इनसे सम्भव नहीं था। इनके समक्ष फैली हुई समूची दुनिया थीं, सम्पूर्ण जन-जीवन था, समाज के कटु-मधु नंगे यथार्थ थे, मानवीय सम्बन्धों की विडम्बनाएँ थीं, चयनित भाग्य विधाताओं द्वारा सृजित यातनाओं एवं पीड़ाओं के पहाड़ थे—इन सारी परिस्थितियों को देखकर भी, ये अपने अतीत की रंगीनियों को बने-बनाए प्राचीन शास्त्रीय नियमों, बन्धनों एवं छन्द-विधानों की लीक पर साहित्य सृजन करते, शब्दों के आडम्बर से यथार्थ को यथासम्भव ढंकते—यह कैसे सम्भव होता? अस्तु राजकमल ने साफ कहा, "नई शब्दावली और नए शिल्प में काल्पनिक सत्यों और बीते हुए मूल्यों की कविता प्रस्तुत करूँ—मुझसे यह नहीं हुआ। अपने पूर्वकालीनों को दुहराते रहना भी सम्भव नहीं है। दिसम्बर की साँझ के नीले धुंधलके में सोई हुई गंगा नदी . . . ब्लैक आउट की गहरी रात में चौराहे

पर गले बाँधकर भूंकते हुए कुत्ते, रिजर्व बैंक की दसमंजिला इमारत बनाने के लिए खड़ा किया गया इस्पात का फ्रेम . . . . अकालग्रस्त क्षेत्रों में सरकारी नेताओं के हवाई दौरे और हवाई भाषण, और आकाशवाणी से प्रसारित इन दौरों के विवरण. . . फुटपाथ पर कतारों में सोए हुए भिखारी, मज़दूर और कुत्ते . . . .वियतनाम और कांगो और हिन्देशिया और रोडेशिया . . . और दैनिक समाचार पत्र जिनमें अब लूटपाट, हत्याओं, राजनीतिक दलबन्दियों, रेल दुर्घटनाओं और दंगे-फसादों के सिवा किसी और बात की सूचना नहीं होती है। ये सारी स्थितियाँ मेरे चारों ओर हैं और मैं इन स्थितियों में रहकर यह भूल जाता हूँ कि साँझ के नीले धुंधलके में गंगा नदी सोयी है, और उसके शान्त जल में आषाढ़ का धुंधला चन्द्रमा तैर रहा है।

क्योंकि मुझे मालूम है कि गंगा नदी में चन्द्रमा नहीं तैरता, केवल अवैध गांजा, अवैध चावल, अवैध अफीम और अवैध गेहूँ ढोने वाली नावें तैरती हैं।" अर्थात्; सारे प्राकृतिक, सामाजिक, राजनीतिक उत्पादन वही हैं, सिर्फ उसके सन्दर्भ और उपयोगिताएँ परिवर्तित हो गई हैं। यह परिवर्तन वास्तविक अर्थ में मानवीय सम्वेदनाओं पर भिन्न ढंग से अपना प्रभाव डालता है। ऐसे में राजकमल चौधरी पारम्परिक मान्यताओं के जर्जर घेरे में नहीं भटक सकते थे।

हिन्दी में इनकी पहली रचना 1956 में तथा मैथिली में 1954 में प्रकाशित हुई। किन्तु कुछ साक्षात्कारों एवं 1949-50 के आस-पास की इनकी बाद में प्रकाशित अथवा अप्रकाशित रचनाओं के स्तर से यह स्पष्ट होता है, कि 49-50 का समय इनके परिपक्व लेखन का समय था। अर्थात् लेखन का अभ्यासकाल इनकी किशोरावस्था ही था। फिर इस अभ्यास काल के सम्बन्ध में यह कहना बेहतर होगा कि कथ्य के मामले में इनका दृष्टिकोण और उपस्थापन की इनकी शैली इतनी प्रयोगात्मक थी कि उसे अभ्यासात्मक एप्रोच देने की आवश्यकता ही नहीं हुई। कथ्य और शिल्प—दोनों स्तर पर ये पुरानी लीक पर रहे ही नहीं, कि अभ्यास के आधार पर काव्य का कोई प्रतिमान निर्धारित करते अथवा निर्धारित विधान से सम्पन्न रचना करते। मौलिक रूप से समाज की सारी परिस्थितियाँ इनके काव्य का विषय होती थी और परिवेश की देखी-परखी-भुगती सारी घटनाएँ इनकी बौद्धिकता की रिफाइनरी में परिशुद्ध होकर रचना का रूप ग्रहण करती थी। घटनाएँ इनकी दृष्टि में एक विचित्र-सी प्रतिक्रियात्मक स्वरूप लेती थी। मात्र द्रष्टा बनकर रहने की आदत-इनकी नहीं थी। वे उसमें बाह्याभ्यन्तर संलग्न होते थे। इनकी मान्यता थी कि "मेरा निर्णय केवल यही है कि मैं तटस्थ नहीं हूँ और न तमाशबीन हूँ। मैं संजय नहीं हूँ और न धृतराष्ट्र। मैं अपने बाहर और अपने अन्दर महाभारत युद्ध में शामिल हूँ। युद्ध-रत हूँ मैं, तटस्थ होना मेरे लिए नपुंसक होना है। और मैं जानता हूँ नपुंसक होकर मनुष्य और उसका कवि, उसका स्रष्टा दोनों मर जाते हैं। मुझे मृत्यु नहीं चाहिए।"

राजकमल पुनः आगे कहते हैं—"मनुष्य अपनी कविता में कितना अश्लील होता है, शरीर के किन अंगों और दृश्यों का वर्णन करता है, कितनी मात्रा में गांजा या मसकोलिन या चरस लेता है, किन गलियों और नावदानों में रात काटता है, किस प्रकार की यातनाओं और बर्बरताओं को बर्दाश्त करता है, और किन शब्दों को अपना दास अथवा अपना ईश्वर स्वीकार करता है।

फर्क सिर्फ इस बात से पड़ता है, कि वह अपनी कविता को अपना जीवन मानता है या नहीं—और वह युद्ध-रत है या तटस्थ।"

अब इनके वक्तव्य और व्यवहार की तुलना करने से एक प्रश्न और उठ खड़ा होता है। इनके लेखन तथा जीवन से सम्बद्ध जिस बात की चर्चा पूर्व में हो चुकी है, उसको जब इस वक्तव्य से जोड़कर देखने की बात उठती है, तो स्पष्टतः एक विरोधाभास उत्पन्न होता है। एक ओर ये मृत्यु को वरण करना नहीं चाहते हैं, तटस्थ रहना नहीं चाहते हैं, इस महाभारत युद्ध में शामिल रहना चाहते हैं। और दूसरी ओर अपने शरीर, अपनी आत्मा,

अपनी ज़िन्दगी को बौखलाहट और विसंगतियों की भट्ठी में जलाकर राख कर देने में सफल हो जाते हैं। असंयम की पराकाष्ठा पर चलकर आत्महंता बन जाते हैं। ऐसे यह भी सत्य है, कि जीवन के बारे में राजकमल काफी बेदर्द साबित हुए हैं किन्तु साहित्य के स्तर पर इनकी ईमानदारी अक्षुण्ण है। अपने तमाम व्यसनों के साथ जीने की मंशा को यह वक्तव्य ध्वनित करता है, ऐसा लगता है। या, यदि बड़बोलापन न हो, तो इनके एक अन्य वक्तव्य (मैं लिखने के लिए ज़िन्दा रहना चाहता हूँ) के आधार पर यह कहना भी वाजिब होगा, कि ये जीने के लिए लिखना नहीं, लिखने के लिए जीना चाहते थे। अस्तु इनके वक्तव्य का यह विरोधाभास यहाँ आकर धूमिल हो जाता है। इनकी सम्पूर्ण ज़िन्दगी सामाजिक परिवेश की परिस्थितियों के अवलोकन और परीक्षण में बीती। इस क्रम में जीवन-जगत् की समस्त घटनाओं का भोक्ता के रूप में इन्होंने परिचय पाया। इन्होंने पाया, कि जनता के पास रहकर ही उनकी चिन्तन प्रक्रिया, उनकी सतही स्थिति और आन्तरिक व्यथा का परिचय मिल सकता है। मानवीय सम्बन्धों के बीच पड़ती दरारों की परिसीमा और उस परिसीमा को ढंकने के षड्यन्त्र की सुरंगें उनके बीच रहकर ही पहचानी जा सकती हैं। दूसरे सन्दर्भ में, अनुभूति की परिपक्वता व्यक्तिगत भोग को समष्टिगत भोग में परिणत करती है। यह परिणति भोग की कला पर निर्भर करती है। राजकमल में ये सारे सामर्थ्य भरे हुए थे। इस सन्दर्भ में विजय बहादुर सिंह का वक्तव्य बहुत माकूल प्रतीत होता है—"सारा समाज उसका प्रेरणा स्रोत है और सारी कविता उसका अपना इतिहास . . . राजकमल, उसकी कविता, उसका घर, उसके लोग और देश-काल अलग-अलग खण्डों में बँटे हुए नहीं हैं, बल्कि ये सारे इकाई के रूप में उनके सामने हैं।" जीवन और लेखन—दोनों में एक रूप रहने वाले राजकमल हर पल अपनी खूबी और खामी, दोनों के लिए ईमानदार दिखते हैं। युग यथार्थ के लिए कभी इन्होंने, न तो कछुए की तरह चर्म कवच में सर छुपाकर दुनियावी समस्या से ओझल होने का प्रयास किया और न ही आँखें बन्द कर सूर्य की तीखी किरणों को भुला देने का प्रयास किया। सत्य को सदा सत्य माना और अपनी आत्मशुद्धि के बल पर सत्य कहने की भी क्षमता रखी। किसी भी साहित्यिक विधा में युग-सत्य से परे होते नज़र नहीं आना, इनकी ईमानदारी का सबूत है।

राजकमल की 'मुक्ति प्रसंग' दीर्घ कविता की पुस्तक के बारे में कहा गया है कि "भारतवर्ष के लिए यह पुस्तक एक उपहार है जिसे राजकमल ने रोग शैया पर अत्यन्त स्वस्थ और साहसी मन से लिखा है।" साहस तो राजकमल का उग्र था ही, साथ-साथ परिवेश की विद्रूपताओं को सूक्ष्मातिसूक्ष्म ढंग से समझने की क्षमता भी काफी प्रबल थी। राजनीतिक समझ-बूझ और जागतिक घटना-उपघटनाओं में ताल-मेल स्थापित करने की अद्वितीय शैली इनकी रचनाओं को काफी उत्कर्ष देती रही हैं। 'मुक्ति प्रसंग' कविता वस्तुतः एक उपहार है, जो राजकमल की गुज़री हुई ज़िन्दगी और यथार्थ के सार रूप में पाठकों को प्राप्त है। इस कविता में व्यंग्य काफी तल्खी से आया है। इनकी कविता स्थान-काल-पात्र की शारीरिक स्थितियों का शील भंग करती है, ऐसा इनका मानना हैं। और इस पूरी कविता में ऐसा अनेक जगहों पर देखने को मिलता है, जो कि इनके यथार्थ भोग की प्रामाणिकता तथा काव्य-सृजन के हुनर को समर्थन देता है। व्यक्ति का शरीर, समाज की एक न्यूनतम इकाई है। लेकिन, व्यक्तिगत दैहिक भोग कवि की भाषा की कूंची का योग पाकर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्याधि हो जाता है। ऑपरेशन टेबुल पर पड़ा हुआ राजकमल का रुग्ण शरीर, शब्द-संयोजन और अन्य सारे शैल्पिक उपादानों की सहायता से, इस विकृत परिवेश वाले देश का बिम्ब बन जाता है। प्रतीक अर्थ में लिए गए इस रुग्ण शरीर की दुर्दशा अर्थात् देश की दुर्दशा को कवि राजकमल अपने शरीर की व्याधि से सम्बन्ध स्थापित कर अपनी संवेदना की गहराई का परिचय देते हैं, जहाँ देश की कुरीतियाँ, विसंगतियाँ इनकी अंतड़ियों की गन्दगी होती है, जनमानस की विडम्बनाएँ इनके ज़ख्म और मवाद होते हैं, समस्याओं की ऊब भरी परिस्थिति में जीते मानव की मनः स्थिति का प्रतीक वे सारी दुर्गन्धियाँ होती हैं, जो षड्यन्त्र के परदा तले ढके, पेट की त्वचा के नीचे बन्द रहते हैं। ऑपरेशन

टेबुल पर इतिहास पुस्तक की तरह खुला पड़े राजकमल डाक्टर के प्रतीक में आए सफेद पोशों को इसकी चेतावनी देते हैं—

मैं इतिहास पुस्तक की तरह खुला पड़ा हुआ हूँ
लेकिन मेरा देश मेरा पेट मेरा ब्लाडर मेरी अंतड़ियाँ खुलने से पहले
सर्जनों को यह जान लेना होगा
हर जगह नहीं है जल अथवा रक्त अथवा मांस अथवा मिट्टी
केवल हवा कीड़े जख्म और गन्दे पनाले हैं
अधिक स्थानों पर इस देश में
जहाँ सड़ कर फट गई है नसें वहाँ हवा तक नहीं
ऊपर की त्वचा चीरने पर आग नहीं निकलेगी नहीं धुआँ
जठराग्नि दावानल
सब बुझ गए हैं अचानक पन्द्रह अगस्त की पहली रात के बाद
अब राख ही राख बच गया है पीला मवाद . . . । (मुक्ति प्रसंग/पृ. 14)

'मुक्ति प्रसंग' कविता के केन्द्र में स्वयं कवि खड़े हैं। यूं, अपनी समस्त रचनाओं में राजकमल विद्यमान रहते हैं। सर्वत्र इनका 'मैं' मुखर रहता है। अपने लिए चुने गए सर्वनामों से भरी हुई इनकी रचनाएँ, इनके यथार्थ भोग की मौलिकता का परिचय देती हैं। यह इनकी ऊर्जस्वित प्रतिभा, मार्मिक कल्पनाशीलता, प्रामाणिक अनुभूति और विलक्षण रचनाशीलता का घोतक है कि रचनाओं में व्याप्त राजकमल का 'मैं' भोग के स्तर पर अपने तक सीमित भी है और अभिव्यक्ति के स्तर पर सारे परिवेश की विराटता को समेटे हुए भी। मृत्यु की गोद में पड़ा राजकमल, उसके कुलिश बाहुपाश में जकड़ा हुआ राजकमल मुक्ति कामी भी है और साहसी भी। मुक्तिकामना इनके साहस को कमज़ोर करने का प्रयास नहीं करती, बल्कि पूर्ण विद्रोह के साथ अपना लड़ाकू और युद्धोन्मुख स्वभाव दिखाती है। यह मुक्ति कामना सिर्फ कवि की शारीरिक व्याधि मुक्ति कामना नहीं है। वस्तुतः इस दीर्घ कविता का प्रारम्भ ही कवि की व्याधि से होता है और कवि अपने रुग्ण शरीर को पूरे देश की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, मानसिक आदि तरह की विकृतियों की रुग्णता के साथ सम्बन्ध करा कर, एक तरफ, स्वयं व्याधि से मुक्त होना चाहते हैं तो दूसरी तरफ सम्पूर्ण समाज, सारे देश को अपनी तमाम विसंगतियों से मुक्त करना चाहते हैं। बहुलांश में राजकमल की रुग्णता देश की राजनीतिक रुग्णता से तालमेल स्थापित कर इस कविता को उत्कर्ष देती है। विषय-फलक को इनकी शैली में दृष्टिकोण काफी विस्तार देता है। शब्दों की पुनरावृत्ति, वाक्यों की पुनरावृत्ति एक अर्थ में दोष मानी जाती है, जब कि यही प्रक्रिया इनकी कविता में आकर उस रचना के उत्कर्ष का कारण बन जाती है। पौराणिक, ऐतिहासिक शब्दों के नए बिम्बों से वाक्य में अर्थ नूतनता भरना; जैविक, प्राकृतिक, वैज्ञानिक, व्यापारिक सन्दर्भों से परिवेश निर्मित करना; प्रयोगात्मक चातुर्य से शब्दों को नया बनाना; वैयक्तिक सन्दर्भों को प्रयोगत संस्कार से अभिभूत कर सम्प्रेषणीयता को बढ़ाना; मिथकीय चर्चा से प्रभावोत्पादकता में चमक लाना; ध्वन्यात्मक शब्दावली से रचना की नाटकीयता बढ़ाकर उसको मनोरंजक बनाना; व्यंग्य निरुपित कर भाषा को तीक्ष्ण, धारदार तथा प्रभावकारी बनाना . . . . आदि इनकी रचना धर्मिता के कुछ स्मरणीय पक्ष हैं।

कविताएँ इन्होंने मैथिली में भी लिखीं। 1958 में प्रकाशित इनकी कविताओं का पहला संग्रह है, जो एक खास अर्थ में मैथिली कविता का मील पत्थर है। प्रशस्ति अपेक्षाकृत मैथिली में इनको ज़्यादा ही मिली। भाषा की तल्खी और उपस्थापन कौशल और शिल्प के अन्य उपांगों के स्तर पर ये सर्वत्र समान दिखते हैं। किन्तु

विषय और वातावरण के स्तर पर इनके दोनों साहित्य में एक तात्विक अन्तर है। एक ओर ये हिन्दी में विश्व स्तर के बोध के साथ सामाजिक परिवेश के सर्वतोन्मुखी आधुनिकता के अन्तः पुर में झाँककर वहाँ की सारी रीति-कुरीति, युगीन राजनीतिक षड्यन्त्र की संकरी गलियों से गुज़र कर तंगहाल जीवन जीते मनुष्य की विडम्बनाएँ, उसकी इच्छा-आकांक्षाएँ, समाज के सारे सुन्दर-असुन्दर पक्ष आदि को अपनी कविता में गम्भीरता से उठाते हैं, तो दूसरी ओर, मैथिली में, रूढ़ियों की जर्जर जाल, परम्परा के कुण्ठित व्यामोह, समाज के स्वार्थी ठेकेदारों द्वारा तय किए गए नियम-कायदे, शास्त्रों से निकले अंधविश्वास के अजगर आदि के अंध-प्रकोष्ठ में भटकते हुए, अपनी ज़िन्दगी को पुलिसी अथवा किरानीगिरी की ड्यूटी की तरह ढोते हुए जनजीवन को ही चित्रित करने में इनका सारा समय बीत जाता है। मिथिला की मौलिक संस्कृति, वहाँ का समाज, वहाँ का जनजीवन अपनी असलीयत के साथ इनकी मैथिली कविता में आता है। सामाजिक परिवेश और युग यथार्थ के प्रति इनकी सतर्कता का एक यह भी उदाहरण है, कि भारत का यह जनपद राजनीतिक स्तर पर और युगबोध के स्तर पर जितना पीछे था, उस हाल में ही यहाँ का चित्रण आवश्यक था। उससे आगे-जाकर कल्पना की उड़ान में मग्न होना, इनकी आदत नहीं थी। फलतः इस जनपद की स्थिति का चित्र इन्होंने वहीं से खींचना प्रारम्भ किया। अन्धकार में भटकते, अपने अस्तित्व को खोजने हेतु किरणमाला की प्रतीक्षा में रत मानव का यही जीवन-सच है—

आब अस्तित्वक अवियल यथार्थ दुइएटा अछि
प्रथम ई जे हमसभ ताकि रहल छी
किरणमाला;
दोसर एतबे जे अतीत-प्रेतक अनिवार्य संगति मे, महावन मे
जीवित छी हम सभ!

इसी महावन में भटकते मानवों का प्रतिनिधित्व करते हुए कवि अपनी पुरानी पीढ़ी को सम्बोधित करते हैं—

जं नवका ईंटा पाथि हम सब बना रहल छी अपन दोमहला
गुरुवर, तामस जुनि करु!
जं अन्हार मे हम सभ नवका रस्ता हेरि रहल छी अनुखन,
कनिओ जुनि डरु!

हिन्दी और मैथिली के क्षेत्र विस्तार के कारण इसके परिवेश और संस्कृति में जो भिन्नता है, उसी का फल है कि कविता की पहुँच में यह अन्तर आया। यदि मिथिला के सांस्कृतिक परिवेश और सामाजिक यथास्थिति का सम्पूर्ण भारत की आधुनिकता और इसकी सांस्कृतिक नकल का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो इनकी दोनों भाषाओं की कविताओं के विषय और उसकी बनावट जन्य भिन्नता का स्पष्ट परिचय मिलेगा।

कथा साहित्य का विकास क्रम खोजते-खोजते हम लोग वेद, उपनिषद् और अन्य प्रामाणिक, पौराणिक ग्रन्थों के रचना काल में जाकर इसे अत्यन्त प्राचीन बना लेते हैं। किन्तु यह एक विचारणीय प्रश्न है, कि आज की कहानी का उस काल की कहानियों से जो पार्थक्य भाव उभर आया है, उसका क्या कारण है। वस्तुतः स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व और द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् कहानीकारों में जो परिपक्वता आई, उनमें जो अस्तित्वबोध आया, नई चेतना आई—इस सबका बहुत ही लाभकारी प्रभाव बाद के कथा-लेखन पर पड़ा। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत की राजनीतिक स्थिति बदल गई। सामाजिक परिवेश और उसके रहन-सहन में परिवर्तन आए। यह परिवर्तन अलाव की आग, बाल्टी के पानी के बीच हुए युद्ध के परिणाम की तरह पनपा। एक ओर उन

प्रखर आकांक्षाओं को फलीभूत करने हेतु जनता प्रयत्नशील और जिज्ञासु थी, जिसको काफी दिनों से स्वराज आने पर पूर्ति कर लेने के लिए उन लोगों ने पाला था एवं दूसरी ओर हस्तान्तरित सत्ता को बपौती समझकर अपने स्वार्थों और सपनों को पूर्ण करने में रत वे मुट्ठी भर लोग थे, जिन्हें बड़े विश्वास के साथ इस जनता ने अपना नेतृत्व सौंपा था। दो स्वार्थों के इस टकराव में प्रखर रहने के बावजूद जनता की अभिलाषाएँ अलाव की ज्वाला की तरह दमित हो गईं और इस पानी के योग से एक विचित्र-सा धुआँ उठा। जनता इस धुआँती ज़िन्दगी को, घुटनयुक्त वातावरण में बोझ की तरह ढोने लगी। राजनीतिक दृष्टि से परिपक्व कथाकारों ने इन परिस्थितियों को देखा, महसूसा और इसके विरुद्ध जिहाद छेड़ने की ठानी। इस जिहाद को एक अनूठा और प्रभावकारी स्वरूप देने के लिए अपने अन्तस् का मन्थन करना पड़ा और अपने परिवेश की मान्यताओं तथा स्थापनाओं से संघर्ष करना पड़ा। राजकमल चौधरी इस वर्ग के बड़े तीखे कहानीकार साबित होते हैं, जिनके मन में इस तरह का कोई द्वैध नहीं था, कि 'मैं करूँ या न करूँ'। विसंगतियों की उस विभीषिका में साहस की उत्कट आवश्यकता थी और इनमें साहस प्रबल था।

हिन्दी में राजकमल की पहली कहानी 1958 में तथा मैथिली में 1954 में प्रकाशित हुई और तत्पश्चात् दोनों साहित्यों में गति से इनका कहानी लेखन चलता रहा। लेखन में इनकी क्षिप्रता का मूल कारण हुआ, मान्यता के प्रति इनकी निरपेक्ष भावना। वह काल एक ऐसा काल था, जब इन्हें न तो समालोचक मान्यता दे रहे थे और न ही बहुलांश में पाठक। किन्तु इन्हें इन बातों से कोई मतलब नहीं रहा। कारण ये, यह जानते थे कि हरेक नए रास्ते बनाने वालों के पैर लहूलुहान होते हैं और जनसामान्य बने-बनाए रास्ते से चलना पसन्द करता है। पुराने रास्ते भले ही कीचड़ से भरे हों, लेकिन वे चलते उधर से ही हैं। वर्तमान शताब्दी के छठे दशक का अन्त आते-आते स्वाधीन भारत के सारे रंग समाज में व्याप्त हो चुके थे। इस अवधि के कहानीकारों ने जनसमूह की दुर्दशा और मुट्ठी भर लोगों का षड्यन्त्र तथा कुत्सिम विचार देखा। जनसमूह, जिसके भीतर आकांक्षाएँ थीं, इच्छाएँ थीं, जिजीविषा थी, जिज्ञासा थी, उसकी मानसिकता उसके अन्तस् की भावनाओं को इन्होंने परखा। इनकी नज़रों के सामने कोई स्थापित आचार संहिता अथवा आदर्शवादिता नहीं थी। इनके सामने केवल युग-सत्य था, जन-जीवन का नंगा, यथार्थ था, समकालीन सामाजिक परिवेश में जी रहे मानव की जीवन-पद्धति, उसकी विशेषताएँ, उसकी विसंगतियाँ, उसके कटु-मधु सत्य ही इनके जीवन का अविभाज्य और अभिन्न अंग बन गये। राजकमल, इस अवधि के ऐसे ही कहानिकारों में से हैं, जिन्होंने अपनी दोनों भाषाओं की कहानियों में सम्बद्ध समाज के यथार्थ को अत्यन्त निर्मम और ईमानदार होकर उकेरा है। वस्तुतः राजकमल उस जनसमुदाय के जीवन-सत्य और अन्तस्-चेतना के व्याख्याता एवं विकासोन्मुखी यात्रा के निर्देशक हैं, जो सही मायने में जागतिक दाँव-पेंच से त्रस्त, सामयिक सामर्थ्यवान (षड्यन्त्रकारी) प्रहारों से क्षतिग्रस्त होने के बावजूद जीवन संग्राम में जुटा हुआ है। उस भीड़ की भावनाओं के उद्गाता हैं, जिसके पास साहस है और युद्धरत और क्रियाशील रहकर अपनी आकांक्षाओं की प्राप्ति की तमन्ना है। जीवन-जंगत् के इन सारे उपादानों से ही इनकी रचनाओं में निखार आया है। ये सारी परिस्थितियाँ, राजकमल की सृजन धर्मिता से अनुरंजित होकर पाठक के समक्ष जब आईं, तो स्वाभाविक तौर पर उन विषधरों के लिए अरुचिकर हुई, जो अपने षड्यन्त्र के जाल में मानवता को फंसा कर कठपुतली बनाए हुए थे। उन्हें अपना खोखला अहं, नकली आसन जब डगमगाता प्रतीत होने लगा, तो उन्होंने इन कृतियों को नकारात्मक दृष्टि से देखना प्रारम्भ कर दिया। चूंकि समाज का नीति निर्धारण उसी उच्च सम्प्रदाय के हाथों में रहता है, अस्तु मान्यता का संकट वस्तुतः आ गया था। किन्तु, ये उपेक्षाएँ किसी भी मायने में कारगर नहीं हुईं और राजकमल के आत्मविश्वास को डिगा नहीं पाईं।

जीवन के खण्डित मूल्यों की उपेक्षा, नए मूल्यों की स्थापना, रूढ़िग्रस्त परम्पराओं का तिरस्कार, बेवजह

पाश्चात्य संस्कृति की नकल में परेशान वर्ग विशेष की मानसिक विकृति पर व्यंग्य, जन सामान्य की प्रगति के प्रति सहानुभूति, शोषण आदि विसंगतियों का विरोध . . . . इनकी कहानी की विशेषताएँ हैं। सुरेन्द्र चौधरी के शब्दों में "राजकमल अपनी कहानियों में काले पत्थर की खुरदरी बदशक्ल मूर्तियाँ गढ़ता रहा—मगर इन्हें उसने खंडहर से नहीं निकाला था, समकालीन जीवन से निकाला था और उसकी मंशा कतई उन्हें संग्रहालय की चीज़ बनाने की नहीं थी। वह इनकी ज़िन्दगियाँ वापस देना चाहता था। उसकी यह रचनात्मक पीड़ा थी, दानवीय चेष्टा थी।" इसी समकालीन जीवन की विकृतियों और खूबियों के टीले पर इन्होंने अपना कथा-संसार बनाया। 'स्टिल लाईफ', 'मछली-जाल', 'प्रेत प्रिया', 'भूगोल का प्रारम्भिक ज्ञान', 'जैसे एक कांच की दीवार', व्याकरण का तीसरा पुरूष', 'गांजा मिलानी', 'अरक्षणीया' आदि इनकी महत्वपूर्ण कहानियों में से हैं, जहाँ पर समाज की दैनन्दिन जीवन-प्रक्रियाओं के विविध पक्षों की झलक मिलती है। मैथिली की इनकी सारी कहानियाँ मिथिला की संस्कृति, रीति-रिवाज़ और रहन-सहन के सारे अच्छे-बुरे पक्षों का श्रेष्ठ कोटि का एलबम है।

हिन्दी में इनके नौ तथा मैथिली में तीन उपन्यास हैं। मध्यम वर्गीय परिवेश से चुने गए पात्रों की विवशता, आकांक्षा, सुख-सुविधा की अभिलाषा, आधुनिकता की ललक, उसके जीवन के सारे खट्टे-मीठे अनुभव को पूर्ण सार्थकता और मौलिकता को आने का अवसर इनके उपन्यासों में मिला है। किन्तु इनके मैथिली और हिन्दी के उपन्यासों में एक तात्विक अन्तर है। वह यह कि इनके मैथिली उपन्यासों के पात्र परम्परा रूढ़ियों से ग्रस्त होकर कुछ तो उन्हीं बन्धनों को अपनी नियति मान लेते हैं, कुछ उसके कुलिश पाश में अपनी आकांक्षाओं को झुलसते देखकर छटपटाते हैं और कुछ इन्हीं पारम्परिक मान्यताओं की दुहाई देकर उसके आदर्श के नेपथ्य में सारे कुकर्मों के नायक बन जाते हैं। कुछ पात्र सामयिक विडम्बनाओं के कठोर प्रहारों से चकनाचूर भी होते हैं। किन्तु हिन्दी उपन्यासों के पात्र युगीन रंगीनियों को अंगीकार कर लेने में बेतहाशा परेशान रहते हैं, उनकी मानसिकता अनियंत्रित और असंयमित रहती है। दृष्टिहीन, दिशाहीन स्वेच्छाचारिता के कारण इनके पात्रों द्वारा ऐसी संस्कृति का निर्माण होता है; जहाँ अक्सर पात्र टूटे हुए प्रतीत होते हैं। उच्च वर्गीय अराजकता के विरोध में सुनियोजित संग्राम के प्रति उन्मुख न होकर इनके पात्र खंडित व दिग्भ्रमित होकर, अपनी विवशताओं से घिर जाने के कारण चिड़चिड़ा होकर अवांछित व्यवहार में जुट जाते हैं। यौन-विकृति, मदिरा-सेवन, स्मगलिंग, फिल्म कल्चर, बेईमानी आदि-आदि प्रवृत्तियाँ काफी स्पष्ट होकर इनके उपन्यासों में आई हैं। महानगरों की वीभत्सता, कुत्सा अत्यन्त नग्न रूप में है।

आलोचना, निबन्ध, रूपक और स्तम्भ लेखन में राजकमल कुछ न्यून रुचिशील नहीं दिखते। इन विधाओं में भी दोनों भाषाओं में ये समान रूप से रचनाशील रहे हैं। इसके अतिरिक्त सम्पादन के क्षेत्र में भी इनकी अपनी अस्मिता रही है। इस क्षेत्र में इनकी अपनी शैली रही है। इनकी सारी रचनाओं में इनका शिल्प ही एक ऐसा महत्वपूर्ण काव्यांग है, जो इनको अन्य रचनाकारों से पृथक् करता है और ये अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्ति देने में सर्वांग रूप से सफल होते हैं। इनके अधिकांश निबन्ध किसी रचना विशेष की समीक्षा करने के बजाय, उसको दिशा निर्देश देते हैं। बल्कि यूं कहा जाय, कि इनके सारे निबन्ध, आलोचना और निबन्ध से अधिक, समकालीन भावबोध से आप्लावित साहित्य की विधाओं की अनुशासन-संहिता है, जिसमें काफी साहसिकता के साथ नए साहित्य की सभी विधाओं में सृजनशीलता के नए आयाम स्थापित करने का आग्रह है। 'यह भूखी पीढ़ी क्या है?' 'क्या मैथिली में आधुनिक कविता लिखी जा रही है', 'कहानी, नई कहानी, पुरानी कहानी, 'कविता की राजनीति और राजनीति की कविता', 'नवलेखन के संदर्भ में' आदि इनके कुछ महत्वपूर्ण निबन्धों में से हैं। ये सारी बातें राजकमल की अद्वितीयता की ही परिचायक हैं, जो कभी किसी झंडे तले बैठकर किसी वर्ग के प्रति प्रतिबद्ध होने की बात नहीं करती। यदि कहीं भी इनकी प्रतिबद्धता थी, तो वह थी युग यथार्थ के साथ।

इस क्रम में भीड़ से अलग रहना इनका अपना स्वभाव हो गया था। स्वभाव में यह रूखापन इस समाज की, इस देश की देन थी। डॉ. कल्पना के शब्दों में "राजकमल जिस देश में पैदा हुए, उनके होश सम्हालने तक वह राजनीति प्रधान हो गया, धर्म निरपेक्ष हो गया। इस देश के पास अतीत के खण्डहर थे जिन्हें वह भुना-भुनाकर जी रहा था और जी रहा है। इस देश की संस्कृति का कोई वर्तमान नहीं था। मनुष्य के नाम पर दलाल, चोर, बेईमानों, घूसखोरों और रंडियों की बिलबिलाती भीड़ थी। मानवता के नाम पर इनका मिला-जुला व्यापार। प्रतिभाओं को उजड़ते, दबते, तबाह होते, ईमानदारी को अपराध घोषित होते और सत्ता, साहित्य, कला, भाषा, धर्म और ईश्वर को पैसों पर बिकते देखा। भ्रष्ट राजनीति और राजनेता यंत्रणा के विषय थे—जिनका पेशा किसी भी हालत में वेश्याओं से कम न था। साहित्यकारों को राजनीति में पड़कर निकृष्ट होते देखा . . . "। इन सारी परिस्थितियों के बीच अपनी अवधारणाओं और जनसमूह से जुड़ी अपनी संवेदनाओं को कैसे अछूता रख पाते?

कुल मिलाकर भीड़ से कटने, इतनी तीक्ष्ण शैली अपनाने और विवशताओं के क्रूस पर टंगे जनमानस के अन्तस् की व्यथा को उकेरने में ये ही परिस्थितियाँ प्रेरक तत्व होती हैं। समाज और देश की इन्हीं अवस्थाओं का प्रतिबिम्ब इनके साहित्य में स्पष्ट होकर उगा है।

किन्तु इस प्रखर बौद्धिकता, तीक्ष्ण कल्पनाशीलता, अद्वितीय प्रतिभा और अजस्र स्रोतस्विनी सृजनशीलता के मालिक राजकमल चौधरी की देन से असमय ही पृथक् हो जाना हमारे और साहित्य के भाग्य में बदा था; हम लोग पृथक् हो गए। जबकि इनकी रचनाओं का गम्भीरता पूर्वक अनुशीलन अभी भी शेष है, जो होना चाहिए।

राजकमल की स्वीकारोक्तियाँ

. . . अपने आपको मैं ऊँची नस्ल के कुत्ते के ज़्यादा करीब पाता हूँ। भारतवर्ष के राजकीय इतिहास की तारीखें और ऊबड़-खाबड़ टीलों से भरी हुई बंजर ज़मीन के बेडौल टुकड़े की तरह पलंग पर सोई हुई एक औरत—यही दो अनुभव एक लम्बे अरसे तक ऊँची नस्ल के इस कुत्ते को दिए गए। . . . .मेरे पिताजी यह औरत खरीद लाए थे।

[अलसुबेरे रुटीनबद्ध ढंग से ऐतिहासिक तारीखों का पाठ याद करते वक्त बगल में सोई सौतेली माँ पर राजकमल का वक्तव्य]

(आदमी अब नहीं/युयुत्सा, अगस्त-1967)

' . . . .मुझे परिवार के ब्राह्मण संस्कारों में दीक्षित करने के लिए पिताजी के पास कुल तीन तरीके थे—आज्ञा, उपदेश, मारपीट। मेरे पिताजी को वह आज्ञाकारी (मूर्ख) लड़का सबसे प्यारा था जो अपने पिता की आज्ञा के कारण जहाज के डेक पर पत्थर के बुत्त की तरह अचल खड़ा रहा था और आग लगने पर जल-भुनकर खाक हो गया था। मैं उस लड़के से . . . . मुक्त होना चाहता था।

(स्थान-काल-पात्र/युयुत्सा, अगस्त-1967)

मैं किस्से गढ़ने में माहिर हूँ। कभी-कभी मैं तुमसे कोई गढ़ी हुई झूठी दास्तान कह सकता हूँ, ऐसी दास्तान जो मेरे चरित्र को ज़्यादा-से-ज़्यादा विकृत करके तुम्हारे सामने पेश कर सके। इसलिए कि मैं आदमी से नहीं डरता . . .

(चन्द्रमौलि उपाध्याय को लिखे गए पत्रांश)

मैं इनसे (समाज, परिवार) अलग, इनके बगैर, इनसे सारे रिश्ते तोड़कर अपनी स्वाधीन अव्यवस्थित और ऊल-जलूल ज़िन्दगी जीना चाहता हूँ—परिवार की सीमाओं से स्वतन्त्र ज़िन्दगी, समाज के नियम-कानूनों से स्वतन्त्र ज़िन्दगी, देश की प्रतिश्रुतियों से स्वतन्त्र ज़िन्दगी।

(धर्मयुग, 9.4.67)

मैं अच्छा आदमी नहीं हूँ। छोटी-छोटी चीज़ों के लिए मेरे मन में भयानक कमज़ोरियाँ हैं। मैंने स्वयं वक्त आने पर किसी दूसरे की सहायता नहीं की है। सिर्फ अपना ही स्वार्थ हमेशा मैंने देखा है। शायद औरत, पैसे, ऐश-आराम, यश, सारी बातों के लिए मैं अपने आपको और अपने आन्तरिक समाज को ठगता रहा हूँ। सच कभी नहीं, मैंने सिर्फ झूठ की ज़िन्दगी बसर की है, इसलिए यह सारी बीमारियाँ मुझे ही होनी चाहिए थीं, मुझे ही हुई। ये किसी पाप का फल नहीं, मेरे अनुभवों का फल है।

(शम्भुनाथ मिश्र के नाम 28 जून 1967 का पत्रांश)

मैं बहुत Stupid हूँ कि अपने व्यक्ति को नहीं जानता और बहुत Self loving कि दूसरों को जानना नहीं चाहता। अपनी ही खराबियाँ मुझे दूसरों में बुरी लगती है।

(शम्भुनाथ मिश्र के नाम पत्र)

माँ की मृत्यु के एक सौ अठासी दिन बाद पिताजी पास के ही एक पहाड़ी गाँव से तीसरी पत्नी खरीद लाए। कीमत आठ सौ रुपए नकद और दो हज़ार रुपए के गहने और कपड़े। विवाह की बातचीत तय करने की दलाली के रूप में पलटन ठाकुर नाम के एक व्यक्ति को पूरे पचास रूपए दिए गए थे।

(आदमी अब नहीं)

तीसरी औरत लाने से पहले पिताजी यही कहते थे कि उनके इस बेटे से अधिक तेजस्वी, संस्कारी, प्रतिभा सम्पन्न लड़का इलाके भर में नहीं है। मगर तीसरी औरत परिवार में आ गई और घर का समूचा नक्शा बदल गया। रंगे गए हाथ-पाँव, माथे पर मनटीका, आँखों में आलस की काजल रेखा और अपनी गुलाबी आभा में वह औरत (जो किसी हालत में चौदह साल से ज़्यादा क्या होगी?) हमारे मकान को अपना 'खेलाघर' या खिलौना घर बनाने में जी जान से जुट गई। पिताजी मुझको जैसे अपना प्रतिद्वन्द्वी समझकर यह साबित करने लगे कि गन्दगी, मूर्खता, झूठ और चोरी में मेरा कहीं मुकाबला नहीं है।

घर परिवार का और मेरे उस चौदह वर्षीय जीवन का समूचा नक्शा बदल गया। उस रात के बाद मैंने कभी भी अपने आपको ईमानदार अथवा कम-से-कम प्रतिभा सम्पन्न साबित करने की कोशिश नहीं की।

बचपन में मुझे (माँ की मृत्यु के बाद) किसी का कोई स्नेह और आदर नहीं मिला, लेकिन इसलिए मैंने तटस्थता और शारीरिक बल प्रदर्शन का द्वैत मार्ग अपनाया, यह बात नहीं है। मेरे पास करने के लिए कोई सार्थक (मेरे अनुसार) काम नहीं था, मेरे अभिभावकों की निर्लिप्तता के कारण मेरे पास फुरसत ही फुरसत थी, अतएव मैं कम उम्र में ही बुरी-से-बुरी आदतें अपना चुका था। सारी आदतें केवल वक्त काटने और रमे रहने के लिए।

(डायरी का अंश)

मैं साहसी बनना चाहता हूँ, मगर साहस के लिए भरोसा चाहिए कोई साथी चाहिए, कोई हम-सफर चाहिए। मेरे पास बिस्तरे में सोने वाली औरतें हैं, खाना पकाने वाली, आँखे तिरछी कर शरमाने, मुस्काने वाली औरतें हैं। हम सफ़र नहीं हैं। न कोई दोस्त, न बीबी, न बहन, न माँ, न भाई, न ही कोई प्रेमिका। बीच-बीच में कोई प्रेमिका हो जाती है, अपने को, यानी अपने moral sense को धोखा देकर उससे प्यार की बातें करता हूँ, उसके साथ लेक के किनारे बैठकर रवीन्द्र संगीत सुनता हूँ, बहुत कम उम्र, बहुत अनुभव हीन बनने की चेष्टा करता हूँ। मगर आज या कल अपनी ही नैतिकता अपने सामने नंगी तलवार बनकर खड़ी हो जाती है। प्रेमिका को उसके घर तक पहुँचा आता हूँ—और कहता हूँ—"कल फोन मत करना। अब कभी फोन मत करना।"

(मनमोहिनी जैन को 18.5.60 को लिखे पत्रांश)

Hira Lal Thakur
BADAH P.o. MOHAL
KULLU-175126 H.P.

राजकमल के बारे में

राजकमल झूठा था, अनैतिक था, कामुक था, भ्रष्ट था, जाली था, नकलची था, कुण्ठित था, कुटिल था, समझौता परस्त था, विद्रोही था, शराबी था, अपराधी था, वेश्यागामी था, रोगी था. . .

(सकलदीप सिंह)

. . . बदचलन, बदमिजाज, आवारा, शराबी, अफीमची, दुष्ट, चरित्रहीन, गैर जिम्मेदार यानी राजकमल चौधरी . . .।

(भूपेन्द्र अबोध)

मैं क्यों न कहूँ कि राजकमल चौधरी नौटंकी था, बेईमान था, चौंकाने वाला था और घटिया लेखक था। क्योंकि मैंने ज़्यादातर उसके बारे में यही सुना है।

(गोपाल उपाध्याय)

वह शरीफजादे लेखकों की तरह बुर्का ओढ़े नहीं फिरता था। मैं जानता हूँ, राजकमल की पीढ़ी के ही दूसरे लोग जो बेतहाशा शराब पीते हैं, अय्याशी उससे कम नहीं करते और धूर्त्तता में तो राजकमल से कहीं आगे हैं। लेकिन वे शराफत के रेशमी पर्दे डालकर सब कुछ ढँक लेते हैं। आज वे ही लोग कह रहे हैं कि राजकमल असामाजिक था, गैर जिम्मेदार था, बोहेमियन था, धूर्त था। राजकमल धूर्त ज़रूर था, लेकिन वह इतना धूर्त नहीं था कि अपनी धूर्तता को छिपा सके।

(भीमसेन त्यागी)

. . . उनमें (राजकमल में) कुछ ऐसा तेज था, ऐसी लहक थी और ऐसी ज्वाला थी, जिसकी आँच हर किसी को छूती थी और चूँकि आँच सहने की और गर्मी में भी न पिघलने की शक्ति बहुत कम लोगों में होती है। इसलिए जिन्हें भी यह गर्मी लगी उन्होंने राजकमल को कोसा। उनके बारे में तरह-तरह की बातें की, यहाँ तक कि उन्हें गालियाँ भी दीं, किन्तु राजकमल ने न तो फतवों की परवाह की, न गालियों की। वे इन दोनों से ऊपर कीचड़ में कमल की तरह मुस्कराते, हंसते और ठहाके लगाते रहे। उनका जीवन व्यवस्था और व्यवस्था परस्तों के खोखलेपन पर लगाया गया एक ठहाका था और उनका साहित्य पारम्परिक और बासी साहित्य-लेखन

के गाल पर रसीद किया गया एक झन्नाटेदार चांटा था। अब जिसे चांटा लगेगा, वह चांटा मारने वाले के प्रति आक्रोश और गुस्सा करेगा ही। ऐसा ही राजकमल जी के साथ हुआ।

(उमाशंकर निशेष)

जो साहित्य को कवच की तरह ओढ़ते हैं और सिद्धान्तों को मनुष्य की सच्चाई से बड़ा मानते हैं, उनके लिए राजकमल अप्रासंगिक हो सकता है, क्योंकि उनके बनाए कवच राजकमल को नहीं पहनाए जा सकते—अतः राजकमल उनके लिए नंगा ही रहेगा, साहित्य की शुद्धता का जनेऊ पहनने वाले लोग राजकमल से उनके साहित्य से इन्कार कर सकते हैं, उसे नज़रअन्दाज नहीं कर सकते. . . .वे कान पर जनेऊ चढ़ाकर उसे पढ़ते हैं . . .राजकमल ने जिस भयावह, दयनीय ओजस्वी, कलुषपूर्ण और तमस से भरी देह की धधकती भट्ठियों की तेजस्वी दुनिया का निर्माण किया है—वह दुनिया, राजकमल की वह दुनिया, अनुभवों की अग्निदीक्षा का कारखाना है . . . .राजकमल के अनुभवों, एकांत धधकती भट्ठियों के बिना साहित्य का एक आयाम सूना और अधूरा रह जाएगा . . . जुगुप्सा, जघन्यता, ईर्ष्या और उद्दाम वासनाओं में से जागता और उठकर सामने आता एक चेहरा—अनागत भविष्य का प्रौढ़ चेहरा सामने नहीं आ पाएगा।

(कमलेश्वर)

. . . अपने आन्तरिक और निकटतम देश में घूमता हुआ यह व्यक्ति कभी-कभी गहरी आत्मलीनता में गहरे मानवीय अर्थों के प्रति अचानक सचेत हो गया-सा मालूम पड़ने लगता है। यों उसे अपनी व्यर्थता का पूरा-पूरा बोध है और उस व्यवस्था का भी, जिसने उसे इतना व्यर्थ बना दिया है। इस गहरे आत्म बोध से कवि के स्वर में निजता के साथ वास्तविक गहराई भी आ जाती है . . . . राजकमल खुद भी एक खुली पुस्तक है, इतिहास पुरूष चाहे वह न भी हो। इस अर्थ में मुक्ति-प्रसंग का कवि पारदर्शी है, इसे उसकी कविताओं से भी जाना जा सकता है। गहरी होती हुई मृत्यु-छायाओं के बीच भी राजकमल पारदर्शी हैं, रहस्य के रंग भरना उसे नहीं आता।

(मुक्तिप्रसंग : एक और देहगाथा/सुरेन्द्र चौधरी)

उसका मरना मुझे जीने का सही कारण देता है/जबकि वे/याने कि मेरे दोस्त/पहियों और पांडुलिपियों की रायल्टी तय करने की/होड़ में यह नहीं जानते/कि वह/फूलदानों, मछलियों, अँधेरों और कविताओं/को कौन-सा अर्थ/देने के लिए/किस जंगल/किस समुद्र/किस शहर के अँधेरे में जाकर/गायब हो गया है

(संसद से सड़क तक/धूमिल)

भोगते रहे सौ-सौ अभिशापों के प्रतिफल
तुम मुक्तचित्र कांटे पर कांटा गये निकल
हम जुटा न पाये, हाय, अस्थि-निर्मित कुंडल
बे-भाव बिका भूखी पीढ़ी का आखंडल

(नागार्जुन)

आवरण विहीन सच्चाई का बना था वह आदमी . . . वह आदमी शोणित में सिद्धान्त खोजता था

(डॉ. तारा चन्द वियोगी)

मैं generalization में भटक गया, पर तुमने अपने उपन्यास में बड़े ही general remarks दिये हैं। तुम्हारी शैली का मैं कायल हूँ। यही डर है कि इतनी अतुल प्रतिभा ग़लत जगह लगाकर तुम अन्त में कुण्ठित न हो जाओ। मैंने इसी जीवन में ग़लत जीवनदृष्टि के कारण प्रतिभाशालियों को कुण्ठित होकर खत्म होते देखा है।

(उपेन्द्रनाथ अश्क)

राजकमल का साहित्य मन में छिपे अँधेरे जंगल का चित्रण है, जिसे वे 'देह की राजनीति' कहते थे। उनकी प्रेरणा का उत्स पश्चिम का साहित्य था। प्रगतिवाद, जनवाद इत्यादि समीक्षा के मुहावरे पश्चिम की नकल है। भारतीय विश्वविद्यालयों में पश्चिमी आदर्श और चिन्तन का तलछट परोसा जाता है। हमारे लेखक और समीक्षक भी इस तलछट को महत्वपूर्ण चर्चा और चिन्ता का विषय बनाये हुए हैं।

(जीवकान्त)

भाषा का जो संस्कार और आग्रह राजकमल में है, वह विलक्षण, विरल और क्लासिक है, कहूँ तो उतना ही आधुनिक भी। राजकमल ने कहानी और कविता में अपना शिल्प, अपना विधान स्वयं बनाया और उसे विस्तार भी दिया। वह कहानी तक में ध्वनि और संकेत के आग्रही थे। उनकी अपनी मान्यताएँ थीं, और उनकी व्याख्याएँ भी। राजकमल अपने समकालीनों में न सिर्फ अलग हैं, वरन विशिष्ट भी हैं।

(महाप्रकाश)

अपनी संस्कृति और परिवेश के प्रति पूरी तरह सजग राजकमल निश्चित तौर पर एक सवालिया लेखक हैं। ज़ेहन को झकझोड़ने वाले सवाल अपने पूरे सन्दर्भ, अर्थ और ताकत में पाठक के आगे उठाते हैं। अपराग-विकृतिग्रस्त समाज को पूरी प्रतिबद्धता से सरेआम अपने-आपको जाँचने को मजबूर करते हैं।

(डॉ. शिवेन्द्र दास)

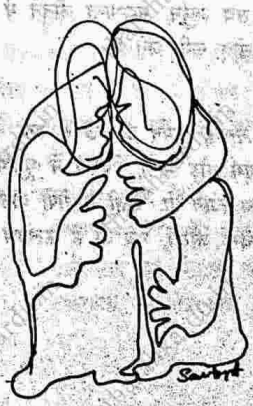

राजकमल चौधरी की रचनाएँ

मैथिली कविताएँ

शयन कक्ष की नारी से

ओ मेनका
तुम्हारे इन्द्रधनुषी आँचल पर अंकित करने को वासना चित्र
प्रस्तुत नहीं है आज कोई विश्वामित्र
न कोई महाराज दुष्यन्त
कर सकेंगे तुम्हारी शकुन्तला की असहायता का अन्त
खेत कोड़ने में, बाँध बाँधने में लगे हुए हैं लोग
चतुर्दिक फैला हुआ है, हृदय का नहीं, पेट का बहु शोक

ओ उर्वशी
कौन देखेगा आदि मुद्रा का चकित मुदित अलस नाच
अभाव के चूल्हे जलते हैं, लोग लगाते हैं प्राण-जलावन आँच
सम्राट विक्रम-पुरुरवादि हो गए दरिद्र
सामन्ती-जीवन गुदरी में हो गए हैं लक्ष-लक्ष छिद्र
और, हम सब अर्जुन, महाभारत जीतने में लगे हैं
मरे नहीं, सोए नहीं, जगे हैं

ओ रम्भा
जल गया नन्दन, अपने ही वज्र से इन्द्र ने की आत्महत्या
तुम भी स्वर्ग छोड़ भागो, देवगण ने भूमार्ग पकड़ा
विलास-नृत्य त्याग दो, परती में रोपो धान
तब ही बचेगा जीवन, तब ही है कल्याण

बन्धन मोक्ष

आरम्भिक धारणा :

मान लें एक वृत्त है परिवार
पिता सूर्य हैं, पृथ्वी-सी परिक्रमा करती हैं सौतेली माँ
पत्नी हैं शशि, सूर्य से ज्योतित
पृथ्वी के चतुर्दिक परिधि-सी बनाती . . .
किन्तु, ज्यामिति का सूत्र नहीं है मेरा जीवन
क्यूँ मान लूँ मैं सूत्रात्मकता का बन्धन (?)
कथमपि नहीं हूँ मैं, मात्र बिन्दु अथवा सरल रेखा

माध्यमिक परिस्थिति :

इस पार पिंजरे से मुक्त विहग-सा मैं
मध्य में ड्योढ़ी का विशाल, जर्जर दरवाजा
उस पार अश्वत्थ के वृद्ध वृक्ष-सा पिता
और दो भावुक मना नारी
माँ, जिसने मुझे गर्भ में धारण नहीं किया
पत्नी, जिसने वहन किया नहीं मेरा स्नेह
और उदास-उदास थकी-सी तीन जोड़ी आँखें
बेधता दृष्टिबाण—
यही है आपका गृह
यही है आपका भविष्य, वर्तमान, भूत
यही है आपका स्वर्ग, नरक, मर्त्य
यही है आपका दिवस, निशि, प्रभात
मत बनें पुत्र, आप गौतम सिद्धार्थ
नहीं पूरी हुई है अभी यशोधरा की आशा
कहाँ है राहुल?
और मैं?—बना हूँ अभी विराट विकल विद्रोह
मेरे लिए टूट गई है घर की दीवार
मेरे लिए नहीं है कोई गृह, कोई परिवार . . . .
भर दिन, भर रात आँगन में
प्रदक्षिणा करता रहा सारा विश्व :
तिब्बत का रहस्यमय प्राचीन मन्दिर : धर्म
मानसरोवर का श्वेततनु हंस : सौन्दर्य
ताजमहल का गोल-गोल गुम्बद : कला

काहिला की कदलि जंघा नर्तकी : वासना
पेरिस की महाकाय ओपेरा : विलास
रूस का मास्को विश्वविद्यालय : ज्ञान
कश्मीर की अपरिचिता सुन्दरी : प्रेम
सारी वस्तुओं ने इसी आँगन में गाया स्वागत-गीत
तदुपरान्त वायु में गुम हो गई, खो गई
धधकता रहा ज्वालमुख हमारे भीतर
किन्तु चेहरे पर शून्य का आवरण, मौन का परदा . . .

अन्तिम विद्रोह :
दौड़ते हैं हम लोग दरवाजे-पार की ध्वनि तरफ
द्रुत गति से त्याग कर पुरानी सारी व्यवस्थाएँ
अव्यवस्थित पंक्ति बनाकर, जुलूस लगाकर
किन्तु एक-दूसरे से पूर्णतः अपरिचित रहकर
हे परिचित पिता, ओ अनजानी माँ
ऐ अज्ञात पत्नी
कौन हो तुम सब? मुझसे है क्या सम्बन्ध?
और कहाँ हैं हम? आ गए हैं किस गाँव?
कैसे स्थगित कर दूँ मैं अपनी महायात्रा
कौन रोकेगा, कौन बाँधेगा, कौन मनाएगा?
चक्रव्यूह में मर गया है अभिमन्यु
रोते रहो ऐ अर्जुन, ऐ द्रौपदी, कोई लाभ नहीं
चीत्कार करो ऐ उत्तरा
न आप जमदग्नि हैं, न मैं परशुराम
न तुम कुन्ती हो, न मैं कर्ण
न तुम सावित्री हो, न मैं सत्यवान।

अंग्रेज़ी कविता

विश्वास

यह काली भगवती
मृत्यु की काली देवी हैं
मुझे गर्भ में ढोती मेरी माँ
आतप से श्रान्त उस भीड़ में बेहोश हो गई
और

मेरा जन्म उसी काली मन्दिर में हुआ—
मात्र यही मेरी मुसीबत है।

देवी को खुश करने को, प्रसन्न करने को
जहाँ ब्राह्मण लोग
अजमस्तक और मदिरा चढ़ाते थे
मेरी माँ ने मुझे उसी अन्धखोह में जना
और
उसी अजमस्तक और मदिरा के साथ
मेरी माँ भी समर्पित हो गई
मुझे जना और मर गई

बड़े होने पर मेरे प्रश्न का जवाब देते हुए
उन लोगों ने कहा—
यही काली (रंग) देवी मेरी माँ हैं
और
मैंने विश्वास कर लिया
नहीं कैसे करता?

यह कविता Belief शीर्षक से अंग्रेज़ी में एक अमेरिकी पत्रिका में छपी थी। रचनाकार द्वारा किया गया इसका हिन्दी अनुवाद अभी तक के शोध के आधार पर उपलब्ध नहीं। यह हिन्दी अनुवाद डॉ. देवशंकर नवीन द्वारा हुआ।

हिन्दी कविता

आदमी नहीं बिकेगा

हीरा, मोती, पन्ना, पुखराज, लाल
दौलत हो या शोहरत का इन्द्रजाल
कामिनी का कुसुमित सुवर्ण वक्ष
या, संसद की इन्द्रसभा का कक्ष
इनके बदले
या, इन सबके झूठे सपनों के बदले
बीसवीं सदी का अब
आदमी नहीं बिकेगा

कीड़ों के बम का भीषण आतंक
डालर की बुढ़िया नागिन का डंक
एक्ट, पैक्ट, लेक्चरबाजी, मिटींगें
एशिया भर को सैर करने की डींगें
आज खोखली
यू. एन. ओ. की फटी ओखली
कागज़ी मूसल के डर से
आदमी नहीं झुकेगा

तुम किए जाओ नित नए-नए भूदान-यज्ञ
लेकिन जनता अब नहीं यज्ञ
बना प्लान् तुम प्लेनों पर घूमो
अमरीकन-एजेण्टों के फूल भरे सीने चूमो
समझ रहे हैं चाल
बना दोगे हम सबको कंगाल
(बिछाकर आयोगों का जाल)
तुम्हारे वादों पर लेकिन
आदमी नहीं रुकेगा

मुँह नोच रहा अपना अमरीका
पड़ गया रंग पूँजी का फीका
एक सूत्र में संवर रही है देश की माला
जनम रही है नई क्रान्ति की ज्वाला
जलते हैं शैतान
जीत रहा है अपना हक इन्सान
झूठे स्वार्थों की खातिर
आदमी नहीं बटेगा

बाजरों के लिए न होगी जंग
देश-देश की शान्ति न होगी भंग
लेकिन खूनी बिल्ले, तमगे, क्रास
मानव न करेगा अपना ही नाश
चन्द टीफरे पाकर
आज़ादी का दिया बुझाकर
बकरे-भेड़ों की तरह
आदमी नहीं कटेगा

साक्षात्कार

सोमदत्त का सहज संसार

❑ महावीर अग्रवाल

"ममा, ममा
मुझे नींद आ रही है,
पूरी क्लास को नींद आ रही है . . . "

भर्रायी आवाज़ में पढ़ी गयी इन पंक्तियों को उनके काव्यपाठ के अवसर पर सभी श्रोताओं ने उनकी संवेद्रनशीलता को गहराई से महसूस करते हुए एकाग्रचित्त होकर सुना था। यह उस काव्यसंध्या की बात है, जिसको जिला हिन्दी साहित्य समिति, दुर्ग ने 8 जनवरी 1989 को अपने प्यारे कवि सोमदत्त के सम्मान में आयोजित किया था। काव्यपाठ से पूर्व उन्होंने बताया था, "21 अक्टूबर 1941 को कागुएवात्स के 800 बच्चों को उनके शिक्षकों समेत भून दिया गया था। 2 मई 1981 को जब मैं 21 अक्टूबर स्मारक पहुँचा, तो महायुद्ध में झेली गयी यातना ने मुझे भीतर तक हिला दिया। यह कविता उन्हीं की याद में आपके सामने रख रहा हूँ।"

उद्वेलित करने वाली इस मार्मिक कविता में मानवता की मूक पीड़ा लगातार मुखर होती रही। विश्वबोध के साथ ही इसी अपनत्व की भावना ने उनके भीतर की छटपटाहट को हमेशा बल दिया। अपनी ज़मीन और परिवेश से जुड़े रहने के साथ-साथ यदि कवि की दृष्टि विश्वयथार्थ को सामने रखते हुए समग्र मानवता के अमन-चैन का स्वप्न देखती है तो उसे धारण करने वाला कवि किसी प्रांत विशेष या देश मात्र का कवि नहीं होता, सारी दुनिया का होता है। सोमदत्त ऐसे ही कवि थे, उनकी कविताएँ हमें आज भी यह सब धीरे-धीरे बताती हैं।

एक ओर उनकी कविता ठेठ देशी मुहावरों से, माटी की सौंधी खुशबू से महकती है, स्थानीय रंगों, देशज शब्दों और लोकधर्मी बिंबों से परवान चढ़ती है तो दूसरी ओर अंडमान निकोबार के घने जंगलों में मंडला की करमा धुन सुनाई देती है। जलंधर में मक्के की रोटी और गोभी-गाजर का अचार खाते हुए कवि युगोस्लाविया की नताशा, मिरो और आंतिच की भूख देखकर व्याकुल हो उठता है। अपनी परपंरा को भीतर तक आत्मसात करते हुए वह अमानवीयकरण और मूल्यहीनता के विरुद्ध सजग और संघर्षशील चेतना द्वारा अपने विचारों को अभिव्यक्ति देता है।

अपने समय की धड़कन को पहचानने, उसके सूक्ष्म रेशों को पकड़ने और फिर उन्हें कविता में रूपांतरित करने की उनकी क्षमता असीम थी। उनकी कविताएँ गहरी आत्मानुभूति के शब्दचित्र बनकर सामने आती हैं। आत्मानुभूति ऐसी जो मानवता के उस समस्त वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है, जिसके संबंध में कविता लिखी गयी है। समकालीन राजनीतिक विसंगतियों पर कटाक्ष करती उनकी अनेक कविताएँ अपने समय का साक्षात्कार

हमें कराती हैं। पीड़ितों के पक्षधर सोमदत्त की भोपाल गैस त्रासदी पर लिखी कविताओं में करूणा से उपजे आक्रोश की अभिव्यक्ति देखते ही बनती है—

लेकिन
पल-भर बाद ही
जैसे किसी ने
फेफड़ों में डाला हाथ
और उन्हें लगा हलक तक आया दम
ऐसा
घर-घर घटा
. . .
हुज़ूर
जान से बड़ी क्या चीज़ है हम गरीबों के पास
सो हमने दे दी भाई मियां
आपके लिए,
इस मुल्क की खुशहाली के लिए . . .
तुम तो अमरीका में बैठे हो
तुम्हें लकवा क्यों मार गया हंसते-हंसते?

सोमदत्त का अनुभव संसार इतना व्यापक और संवदेना इतनी गहरी है कि वे अपने घर परिवार, शहर, गाँव, कस्बे की बात करते हुए पंजाब, गढ़, मुक्तेश्वर, छत्तीसगढ़, बुंदेलखंड के बंधुआ मज़दूरों से संवाद करते हुए नाज़िम हिकमत की धरती पर पहुँच जाते हैं। वास्को पोपा की कविताओं में उनका कवि मन किलकता है। कवि अरूण कमल की ये पंक्तियाँ सोमदत्त के रचना संसार को अच्छी तरह रेखांकित करती हैं—

उनकी कविता निजी, नितान्त निजी अनुभवों से शुरू होकर
तमाम दुनिया, तमाम लोगों तक प्रक्षेपित होती है।

सोमदत्त ने अपनी कविताओं में शोषक और विघटनकारी शक्तियों को पहचानकर लगातार बेनकाब किया है। निम्न एवं मध्यवर्गीय समाज के जनजीवन का समर्थ चित्रांकन हमें हमारे घर, समाज, शहर और गाँव की स्थितियों से नये रूप में परिचित कराता है। उनकी कविताओं में पाठकों को बाँधने की क्षमता के साथ-साथ गजब की संप्रेषणीयता है। दबे, कुचले और शोषित वर्ग के भीतर जो एक छटपटाहट, एक क्रांतिकारी चेतना धीरे-धीरे सुगबुगा रही है, उसका स्वर उनकी कविताओं में धीमा किंतु साफ सुनाई पड़ता है—

रेल और बोगदे के बीच
दबी-घुटी चीख है
वक्त की
किसी-किसी के मन में अब भी
बोगदे को तोड़ देने का प्लान है।

—रेल बोगदे में

सोमदत्त के बहु आयामी व्यक्तित्व में एक जागरुक और संवेदनशील कवि, सिद्धहस्त और विश्वसनीय अनुवादक, गहरी और अनूठी संपादकीय दृष्टि से लैस संपादक मौजूद रहता था। विश्व कविता के संदर्भ में अनुवाद द्वारा भारतीय साहित्य को समृद्ध करने में सोमदत्त का योगदान अविस्मरणीय है। उन्होंने अनुवाद में भारत की क्षेत्रीय बोलियों के ठेठ शब्दों का इस तरह प्रयोग किया कि कविता की आत्मा, मूल स्वर की शक्ति और संप्रेषणीयता अधिक सहज होने लगी। विश्व की लगभग सभी समृद्ध भाषाओं से चुनी हुई सैंकड़ों कविताओं के अनुवाद का क्रम उन्होंने लगातार बनाए रखा। "शमशेर के साथ थोड़ी सी गप्पें" पढ़कर यह जानने का प्रयास किया जा सकता है कि सोमदत्त कैसे थे? उनका अध्ययन, आदमी की परख कैसी थी। उदारता और सहृदयता के कारण उनके मित्रों की संख्या बहुत रही है। नये से नये कवि को रुचि के साथ पढ़ने, मिलने और छापने की उनकी सहृदयता की एक घटना मुझे स्मरण है। नवंबर 1987 में राजनांद गाँव में 'मुक्तिबोध-समारोह' के अवसर पर चर्चा के दौरान भिलाई के युवा कवि नासिर अहमद सिकंदर ने उनसे कहा, "आपका बहुत-बहुत आभारी हूँ आपने 'साक्षात्कार' में कविता स्वीकृत की।" उत्तर में सोमजी ने कहा, "इसमें आभार मानने जैसी कोई बात नहीं है भाई। आपकी रचना बढ़िया है, इसलिए छप रही है। मुझे नये रचनाकारों में यदि ज़रा भी संभावना दिखाई देती है, तो मैं उन्हें 'साक्षात्कार' में अवश्य सामने लाता हूँ।" यह कहकर उन्होंने युवा कवि को आत्मीयता से गले लगाया।

वे अक्सर कहा करते थे, "वन वासियों के जीवन को हमने कितना जाना है? गाँव के लोगों से, उनके तीज-त्यौहारों और उनकी लोककथाओं से हम दूर होते जा रहे हैं। फिर भी हम 'लोक संस्कृति' का डंका पीट रहे हैं। लोकजीवन, लोकधर्म, लोक मर्यादा, लोकमंगल, और लोकरूचि का सच्चा प्रतिरूप होने के कारण ही तुलसी की चौपाइयाँ, सूर और कबीर के पद ऐसे लोगों के ओठों पर बस गये जिन्हें अक्षरज्ञान भी नहीं है। इस दृष्टि से कवि केदारनाथ सिंह ने सही लिखा है, "सोमदत्त जीवन को ठीक वहीं पकड़ने का प्रयास करते हैं, जहाँ वह मिट्टी सने खुरदरे हाथों से बन रहा होता है। नयी भाषा की तलाश का यह रास्ता कवि को सीधे लोकजीवन और लोक भाषा की ओर ले जाता है, जहाँ असंख्य अनपहचाने और अनगढ़ शब्द जीवन की भट्टी में तप रहे हैं। सोमदत्त के लिए वही भट्टी "पुरखों का कोठार" है। पुरखों का कोठार उनके लिए तुलसी का बिरवा बना रहा। उनकी एक कविता है—

वे कौन सी जुबाने हैं
जो मैं बोलूँ
कि समझे सबके मन
कौन सी गठाने अपनी
जो मैं खोलूँ
कि खुले सबके मन

साम्प्रदायिकता के ज्वलंत प्रश्न पर भी चर्चा होती तो वे दुखी हो जाते थे। बार-बार अनेक कोणों से चर्चा करते और कहते। आखिर रास्ता तो हमें ही निकालना होगा। उनकी कविता की निम्न पंक्तियों पर लम्बी बातचीत और बहस भी हुई—

कैसे कह दूँ
कोई मुझे भून देगा तो
इसका डर है
इस डर से

मैं कुछ भी कहने से डरता हूँ
मरता हुआ देखता अपनों को, मरता हूँ
कुछ भी नहीं लिखता हूँ
कुछ भी काम नहीं करता हूँ
बस
बस
यह कविता लिखता हूँ नपुंसकों सा
अपनी चड्डी में झिरता हूँ।

मध्य प्रदेश साहित्य परिषद् के आयोजन में उनकी सहजता और लेखक बिरादरी के प्रति आदरभाव के सभी कायल रहे हैं। अपनी कल्पना द्वारा कार्यक्रमों का परिष्कार करते हुए उसे अधिक व्यापक बनाने के लिए वे सदैव प्रयत्नशील रहे। उनके सम्पादन काल में 'साक्षात्कार' के विशेषांक चर्चित और प्रशंसित हुए। हिन्दी की श्रेष्ठ साहित्यिक पत्रिका के रूप में 'साक्षात्कार' को पूरे देश में व्यापक और सच्ची प्रतिष्ठा मिली।

'साक्षात्कार' में लिखे उनके संपादकीयों में उनकी गहरी और साफ दृष्टि, विवेचना शक्ति और उनके व्यापक अध्ययन की छाप स्पष्ट नज़र आती है। 'साक्षात्कार' के कविता-अंक में उन्होंने लिखा, "जिन दिनों हिन्दी कविता-संसार में अज्ञेय के स्वर-गमक गूँज रहे थे, उन्हीं दिनों एक आवाज़ उभरी—सौंदर्य और सौंदर्यशास्त्र, कविता और काव्य, संवदेना और ज्ञान, छंद लय की प्रचलित अवधारणाओं के परखचे उड़ाती हुई, ज्ञान और संवेदना के जोड़ से बेजोड़ कविता सुनाती हुई। यह आवाज़ मुक्तितबोध की थी। इससे उठी चिन्गारियों ने गहरायी धुंध छांटी। राह साफ हुई, सूझी। कविता जो ठहर गयी थी, आगे बढ़ी अपने तमाम आत्म संघर्षों के साथ।"

इसी प्रकार नागार्जुन, केदार और शमशेर पर केवल 10-12 पंक्तियों में संपादकीय लिखकर उन्होंने अपनी विश्लेषण क्षमता द्वारा गागर में सागर भर दिया, "नागार्जुन में निर्भय प्रतिरोध और खांटी भाषा का दबंग वैभव है, तो केदार में प्रकृति में रचे-बसे मन की चित्रात्मकता और भोले ग्रामीण का ठेठ बांकपन। शमशेर इन दोनों की धारा से कुछ दूर हैं। निश्छल, भावाकुल, सुसंस्कृत फारसी, अरबी, उर्दू, अंग्रेज़ी से प्राप्त आधुनिक मध्यवर्गीय चेतना और इनकी कलात्मक बारीक बुनावट तोल-तोलकर, मानो परख-परखकर एक-एक भाव, एक-एक शब्द, भीतर की लय पर साधते हुए वे अपना काव्य रचते हैं। नफासत से। लेकिन सियासत वहाँ भी बराबर है। कौल उनके यहाँ भी हैं। वही अन्याय के ख़िलाफ आखिरी सांस तक लड़ने का"

'साक्षात्कार' में लिखे उनके अंतिम संपादकीय 'विश्व कविता-अंक' में मानव जाति के लिए उनकी तड़प, उनकी सोच, कविता की विकास यात्रा को निम्न शब्द देती हुई व्यक्त हुई है, पिछली चार-पाँच शताब्दियों का, दुनिया की अधिकांश जनता का इतिहास, परतंत्रता, अपमान, यातना और मुक्ति की छटपटाहट का इतिहास रहा है। मनुष्य की आत्मा का हनन करते हुए, परतंत्रता उसकी संस्कृति का भी दमन करती है, इसलिए तमाम दमित देशों के कलाकारों, लेखकों और कवियों ने देर-सवेर यह पाया कि वे और उनकी रचना दोनों ही अपने समय के अत्याचारों के विरोध में तथा प्रत्यक्ष रूप से किसी राष्ट्रीय, सामाजिक अथवा सामुदायिक उद्देश्य के पक्ष में खड़े हैं।"

पिछले आठ वर्षों में जब भी परिषद् के कार्यालय में भेंट होती, वे घर आने के लिए अवश्य कहते थे। ढेर सी बातें होतीं। उनके घर पर बातों के बीच कभी खीर, तो कभी हलवा, उनके स्नेह का परिचय देता हुआ पहुँच जाता। दुर्ग-भिलाई में दिसबंर, 88 - जनवरी, 89 के बीच आयोजित "बाल रंग शिविर" में छोटे-छोटे

बच्चों की चिंता करते हुए वे लगातार सक्रिय रहे। उनके संपादकत्व में 'साक्षात्कार' को हिन्दी साहित्य की सार्थक और अग्रणी रचनात्मक पत्रिका होने का गौरव मिला। "गाथाएँ सपनों की" विश्व कविताओं की महत्वपूर्ण पुस्तक के रूप में चर्चित और प्रशंसित हुई। "रेल बोगदे में" और "पुरखों के कोठार से" काव्य संग्रहों में तथा उनकी अन्यत्र छपी कविताओं में उनकी कविता का मनुष्य हमें चौकस व सावधान रहते हुए सामाजिक विसंगतियों के विरुद्ध जूझता और संघर्ष करता दिखाई देता है। गहरी पीड़ा के साथ जटिल और विडंबनापूर्ण स्थितियों में मानव विरोधी शक्तियों को ललकारती हुई कविता अनेक अनबूझे प्रश्नों की गूँज छोड़ जाती है—

कि बस
गोली चल गयी थ्री-नॉट थी
फिर-कहाँ कहाँ लगी सबको गोलियाँ?
गोलीकांड की गोलियाँ।
पेट में
पेट की भूख में लगी सबको गोलियाँ।

सोमदत्त की कविताएँ संपूर्ण मानव जाति के लोक कल्याण की लालसा से पाठकों को भी अपने संघर्षों से जूझने के लिये, साथ खड़े होने के लिए प्रेरित करती हैं—

कुछ ऐसा करूँ कि
अपनी ज़िन्दगी पर मुझे
हक मालिकाना मिल जाए . . . .

मशीनीकरण के इस युग में मूल्यहीनता के विरूद्ध उनकी कविताओं का सक्रिय और सार्थक हस्तक्षेप हमेशा विचारबोध और भीतर की तड़प से रु-ब-रु कराता है। अपनी धरती से जुड़े सोमदत्त इस धरती के मनुष्य को बेतहाशा प्यार करते हैं। अपनापा और इन्सानियत इतनी सहज होकर उनकी कविता में घुल जाते हैं कि जन के प्रति उनकी गहरी सोच साफ-साफ दिखलाई पड़ती है। उनके प्रश्न आज भी अनुत्तरित हैं। उनके रचना संसार में हर कदम पर उनकी प्रश्नाकुलता का उत्तर हमें और समाज को देना है—

आदमी कैसे हो जाता है कहीं राक्षस
कभी राजकुमार, कभी भिखारी
कभी कसाई, साहूकार
कभी भेड़िया, नेवला, कभी सांप
पशु आदमी नहीं हो सकते
तो आदमी पशु कैसे हो जाता है?

सोमदत्त से अनेक अंतरंग मुलाकतें हुईं। वे हर सवाल पर खुलकर बोलते और अपना पक्ष प्रस्तुत करते। बातचीत के कुछ अंश यहाँ दे रहा हूँ।

साक्षात्कार में 'धरोहर' की महती योजना आपने बनायी और कार्यान्वित की। उसके पीछे मूल भावना क्या रही है?

अपने पुरखों को याद करना हमारा धर्म है। कर्तव्य है। नैतिक ज़िम्मेदारी है। इसी अहसास से धरोहर के

अन्तर्गत हमने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, महावीर प्रसाद द्विवेदी, माधवराव सप्रे, श्रीधर पाठक, ठाकुर जगमोहन सिंह, प्रताप नारायण मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, रामचन्द्र शुक्ल, हरिऔध जी जैसे अनेक उद्भट विद्वानों को उनकी रचनाओं के माध्यम से जाना है। यह योजना आगे भी धीरे-धीरे अपने विकसित स्वरूप में चलती रहेगी। इसका एक कारण और भी है कि बिरले ही याद रखते हैं कि साहित्य के इस वटवृक्ष को खाद पानी किन लोगों ने दी। पिछली सदी और इस सदी के प्रारंभ में जिन साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं से हिंदी में प्राण फूंके और उसे विविध साहित्य सर्जना की क्षमता दी है, जिनकी रचनाएँ अपने चरित्र में बहुआयामी हुआ करती थीं, ऐसे अनेक भावप्रवण कवि और गंभीर विचारकों को हम 'धरोहर' के माध्यम से एक सीमा तक जानने का प्रयास कर रहे हैं। पाठकों तक पहुँचा रहे हैं। 1920 में कामता प्रसाद गुरु द्वारा लिखित हिन्दी व्याकरण पढ़कर लाखों छात्र अपनी बोली, अपनी भाषा की आंगिक रचना से परिचित हुए हैं। व्याकरण जैसे शुष्क विषय पर लिखी अपनी पुस्तक के आधार पर हिंदी के किसी अन्य रचनाकार को ऐसी कालजयी ख्याति नहीं मिली जैसी कामता प्रसाद गुरु को।

पंडित बालकृष्ण भट्ट पर आप जो मोनोग्राफ लिख रहे हैं उसके बारे में कुछ बताइए?

उनके विचार और भावाभिव्यक्ति की अद्भुत क्षमता मुझे अपील करती रही है। मैंने पढ़ा भी है। इसलिए साहित्य अकादमी के लिए मोनोग्राफ लिख रहा हूँ। मैं ऐसा मानता हूँ कि साहित्य में नवीनतम प्रयोग करते हुए भी वे लोकरूपों, लोकछंदों, रोचकता, सरलता आदि का ध्यान रखते थे ताकि वह भी जो प्रचलित अर्थों में आधुनिक नहीं है, उसको आसानी से ग्रहण कर सकें। गरज-तरज कर अपना मन्तव्य घोषित न करने के बावजूद मन्तक-मन्तक से यह चाहते थे कि उनका लिखा ठेठ देहातों तक पहुँचे क्योंकि वे जानते थे सच्चे बदलाव का नारा देहातों में ही गड़ा है। और भी बहुत सी आंदोलित करने वाली बातें हैं। जब मोनोग्राफ आयेगा आप देखेंगे आज वे बातें नहीं है लेखन में।

अर्थात् कुछ कमी महसूस करते हैं?

हाँ। मैं मानता हूँ कि रचनाकार के लिए हमारे समाज में बहुत सम्मान का भाव नहीं है। साहित्यिक गुटबंदी, खेमेबाजी और रचनाकारों के ही बड़बोलेपन के कारण उनकी विश्वसनीयता में कमी आई है। 'सफदर हाशमी' को जो व्यापक स्नेह और सम्मान मिला है जनता का, यह अपवाद है। और उन्हें यह सम्मान केवल लेखक होने के कारण नहीं मिला। वास्तव में वे जनता से जुड़े हुए थे। उनके अधिकारों के लिए लड़ते थे। वे जैसा लिखते थे, वैसा काम करते थे। परिवर्तन के लिए संघर्ष और नुक्कड़ नाटक को उन्होंने अपनी दिनचर्या का अंग बना लिया था। कथनी और करनी की इस व्यापक चेतना के साथ-साथ हमारे समकालीन लेखकों में अधिकांश की सुविधाभरी दिनचर्या और उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी के जोड़ पर जूझते ऐसे अनेक लेखकों की संघर्षगाथा हमारी आँखें खोलने के लिए बहुत नहीं होनी चाहिए क्या? परन्तु ईर्ष्या-द्वेष से घिरे हम लोग केवल आत्ममुग्धता की स्थिति में जी रहे हैं। कुछ पन्ने लिखकर और विचारधारा की 4-6 पुस्तकें पढ़कर हम परिवर्तन का स्वप्न देखते हैं। समाज का अगुवा बनना चाहते हैं। जब तक रचनाकार अपने लेखन के अनुसार ही आचरण नहीं करेगा, तब तक यह विश्वसनीयता का संकट बना रहेगा। जब रचनाकार अपने लेखन को कर्म में परिवर्तित करेगा तभी वह जनता का विश्वास जीत सकता है।

रचनाकार के लिए सामाजिक दायित्व का बोध बहुत ज़रूरी माना जाता है। साम्प्रदायिक दंगों की इस आग को बुझाने में लेखक को अपनी भूमिका किस रूप में अदा करनी चाहिए?

साम्प्रदायिक दंगे तो भाई बहुत बड़ी समस्या है। पंजाब की स्थिति सबको सालती है। पंजाबियों को भी, पंजाब के बाहर रहने वालों को भी। नफरत और हिंसा की लपटें लगातार जवान होती जा रही हैं। मन बिंध जाता है। भीतर ही भीतर भीग जाता है। जहाँ तक रचनाकर के लिए सामाजिक दायित्व के बोध की बात है। उसके बिना तो सार्थक रचना का जन्म संभव ही नहीं है। लेखक समुदाय अपनी रचनाओं द्वारा इन समस्याओं से जूझ रहा है। कविता,.कहानी, नाटक, उपन्यास, पोस्टर्स के माध्यम से एक सीमा तक लेखक समुदाय ने प्रयास किया है।

'अतएव' के दूसरे अंक में आपकी एक कविता छपी है 'किसको रोऊं'। इस कविता में आपने दंगों के असली कारणों की तह में जाने की कोशिश की है। मानवीय रिश्तों की व्यापकता के आधार पर कविता में अपनी कसक, अपनी पीड़ा भी व्यक्त की है। परन्तु कविता की अंतिम दो पंक्तियों में निराशा का स्वर झलकता है। ये पंक्तियाँ हैं–

यह कविता लिखता हूँ नपुंसकों-सा
अपनी चड्डी में झिरता हूँ।

बात यह है महावीर भाई कि आज कोई भी किसी की बात सुनना नहीं चाहता। समस्या को जड़ से नष्ट करने के लिए चिंतित तो सभी जान पड़ते हैं। परन्तु सभी का नज़रिया अलग-अलग है। अतः यह साम्प्रदायिक समस्या लगातार उलझती जा रही है। दूर-दूर तक इसके समाधान की कोई किरण नज़र नहीं आती। मैंने पिछले प्रश्न के उत्तर में भी कहा कि लेखक समुदाय को अब कर्म क्षेत्र में आकर यथार्थ से संघर्ष करना होगा। परन्तु हर व्यक्ति या लेखक की अपनी परिस्थितियाँ और मजबूरी होती है। मैं चाहकर भी अब सड़कों पर जुलूस के साथ हमेशा नारे लगाने की स्थिति में नहीं हूँ। अतः सोचता हूँ और अपने आपको कविता के माध्यम से व्यक्त करता हूँ। मेरे विचार से इन दो पंक्तियों में निराशा का भाव नहीं वरन् क्षोभ का है। अन्तर्मन की वेदना से इन विचारों को शब्द मिले हैं। अपनी मजबूरी पर, कुछ कर न सकने की स्थिति में मैं अपने को ही लताड़ता हूँ। यहाँ निराशा नहीं करूणा से उपजा आक्रोश है, जो ऐसी विषम स्थितियों में भी विश्वास का दीपक जलाता है और कोई न कोई रास्ता ढूंढ निकालने की प्रेरणा देता है।

आपने अपना काव्यसंग्रह 'पुरखों के कोठार से' हरिशंकर परसाई और अशोक वाजपेई दोनों को एक साथ समर्पित किया है। इस पर अनेक रचनाधर्मी मित्रों ने नाराज़गी व्यक्त की है। बहुत से लोग ऐसा मानते हैं आप विचारधारा के स्तर पर हरिशंकर परसाई के साथ हैं और दुनियादारी में सफल होने के लिए अशोक वाजपेई का हाथ थामे हुए हैं। इस पर आप कुछ कहेगें?

परसाई जी मेरे गुरु हैं। उनसे मैंने लिखना-पढ़ना सीखा है परन्तु अशोक वाजपेई का साथ उनकी नज़रों में खटकता है। ऐसा क्यों है? प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए विचारधारा का चुनाव स्वयं करता है। और उसके रास्ते का भी। मैंने पहले भी कहा है वैचारिक प्रतिबद्धता के बिना रचना का कोई अस्तित्व नहीं है। परन्तु वैचारिक

प्रतिबद्धता किसी व्यक्ति की बपौती नहीं है।

किसी भी संगठन की अपनी सीमाएँ और कार्य पद्धति होती है। संगठन में ही आन्तरिक मतभेद और गुटबंदी चलती रहती है। इसी कारण वैचारिक स्तर पर बहुत अधिक मतभेद न होते हुए भी उसी राह पर चलने वाले नये संगठन बनते हैं। कुछ वर्ष पहले तक अशोक वाजपेई हमारे वामपंथी मित्रों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलते थे तब तक कोई नाराज़गी नहीं थी। अब कुछ वैचारिक मतभेद हैं। ऐसी स्थिति में यदि कुछ मित्रों ने नाराज़गी व्यक्त की तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। अशोक वाजपेयी मेरे बहुत आत्मीय हैं, मित्र हैं। मैं उनकी साहित्यिक प्रतिभा का कायल हूँ। बात यह है अग्रवाल भाई कि अशोक वाजपेई के श्रम का, संकल्प का, योजना बनाने और उसे कार्यान्वित करने की क्षमता का मूल्यांकन सहज नहीं है। उसमें दोष हो सकते हैं। उनकी कार्यपद्धति से अनेक लोग असहमत हो सकते हैं। परंतु उनके योगदान को नकारा नहीं जा सकता। सारी असहमति और सारे विवादों के बाद भी अशोक ने संवाद की स्थिति बनाए रखी है।

शमशेर, केदार, नागार्जुन और त्रिलोचन जी के रचना संसार और उनके व्यक्तित्व के बारे कुछ बताइए?

सभी मेरे बड़े बुजुर्ग हैं। इस दृष्टि से मैं सौभाग्यशाली हूँ कि मुझे सभी का स्नेह, आशीर्वाद और मार्गदर्शन मिला है। अनेकों बार परिवार के बुजुर्ग की तरह वे भोपाल में अनेक सुविधाओं को छोड़कर असुविधाओं का सामना करते हुए भी भोपाल में घर पर ही ठहरे हैं। संपादकीय में लिखी बात को दुहराते हुए मुझे सुख मिलता है। हर सच्चा कवि जनता से प्राप्त भाषा मुहावारों, छन्दों का उपयोग करते हुए उन्हें तोड़ता है। नया रूप, नयी अर्थभंगिमाएँ देता है। हमारे इन कवियों ने यह सब खूब-सूरती के साथ किया है। इनके रचे से आधुनिक भारतीय संवेदना के, कलात्मक अभिव्यक्ति के, मानवीय सरोकारों के अनोखे आयाम उद्घाटित हुए हैं। अपने सिर पर बड़ों की, बाप-दादों की छाँह कौन नहीं चाहता। हम भी।

अच्छा, यह तो मित्रों और बुजुर्गों की बात हुई। अब आप बताइये कि कविता के लिए विषय वस्तु का चुनाव आप किस प्रकार करते हैं?

कोई पूर्व निर्धारित योजना नहीं होती। मैं यह मानता हूँ कि हर आदमी कभी न कभी कवि होता है। संवेदना के उच्चतम धरातल पर जब वह बोलता है तब रचना ही अंकुरित होती है। हम कवि, लेखक इन स्थितियों में उपजे हुए विचारों को भाषा के माध्यम से एक आकार देते हैं। यदि हम फिर से धरोहर की पड़ताल करते हैं तो ज्ञात होता है कि सामाजिक यथार्थ और जीवन का स्पन्दन उनकी रचनाओं में हमेशा बोलता रहा है। मैं सुख-दुख, उत्साह, उमंग और आशा-निराशा के भावों में लिपटे उन लोकगीतों की बात कर रहा हूँ जो निरक्षर ग्रामीण महिलाओं से होते हुए हम तक पहुँचे हैं। यह विषय-वस्तु का ही प्रभाव था जिसमें भक्तिकाल के कवियों-कबीर, दादू, रैदास आदि ने तत्कालीन सत्ताओं को जीता था। लोकभाषा और लोक जीवन ने मुझे सदैव आकर्षित किया है। अपने आसपास की दुनिया में घटती घटनाओं में छुपी हुई, शहादत में रमी हुई, दुख-दर्द में लिपटी विषय वस्तु मुझे अपनी ओर चुम्बक की तरह स्वयं खींच लेती है। मुझे विषय वस्तु का चुनाव नहीं करना पड़ता। विषय वस्तु ही मेरी संवेदनात्मक क्षमता को अंकुरित करती है।

कहानी

एक अधूरा लफ़्ज़

❑ राजीव ई. सिंह

मेरे लिए वे बेकारी के दिन थे। उन दिनों वे बेकारी के उतने नहीं लगते थे, जितना ऊब के। और इत्तफ़ाक से हमारी शामें एक साथ कटने लगीं थीं। मैं दिन भर की अजब खुमारी के बाद शाम को बुक डिपो के सामने उसका इंतज़ार करने चला जाता था। वह दफ़्तर से सीधा वहीं आता था, फिर शाम बिताने के ढंग सोचे जाते थे। उन दिनों मुझमें हमेशा एक अलग तरह की हिचक़ रहती थी—शायद पैसे के अभाव के कारण, और मैं जानता हूँ कि वह हमेशा मेरी इस भावना को कभी ऊपर नहीं आने देना चाहता था, और इसीलिए उसमें भी एक अलग तरह की हिचक भर गई थी। क्योंकि वे मेरे बेकारी के दिन थे, और उसने कभी नहीं चाहा था कि मैं अपने इस अभाव को महसूस करूँ।

उसे जब मैं किसी वजह से नहीं मिल पाता था, तो वह गई रात तक रेस्तराँ में ही बैठा रहता। उस एक शाम भी वह वहीं जा बैठा था। इस पहाड़ी शहर की ठंड उसे हमेशा आतंकित करती रहती थी और पहला स्नोफ़ॉल देखने की उत्सुकता उसकी आँखों में हमेशा जीवित रहती थी। उन पिछले दिनों वह कई बार अधेड़ उम्र एक बच्चे की तरह बर्फ़ के बारे में पूछा करता था।

वह खिड़की के पास वाली मेज़ पर आ बैठा। बाहर नवम्बर की ठिठुरती रात फैल रही थी। खिड़की के बाहर दूर क्षितिज पर जो फीकी पीली-सी रेखा दिखाई पड़ रही थी—शायद वहाँ उसका अपना शहर था, जिसे वह छोड़ आया था और अब उसे ऐसे देख रहा था, मानो ग्लास टैंक में तैर रही मछलियों को देख रहा हो। कई बार अपने फैसले पर सोचने बैठ जाता है कि लौट जाए, परन्तु उसका 'खुद' उसे उसके अपने में लौटा लाता है। वह फिर डूबने लगता है, स्मृतियों के उस सुख में, जहाँ उसका लौट पाना असम्भव ही है। उसने बाहर अँधेरे में डूबे और बत्तियों में झिपझिपाते शहर को पर्दा खींचकर अपने और बाहर के फासले को काट दिया। सिगरेट सुलगाकर वह स्मृतियों की हवा में झूलने लगा . . .

वे कॉलेज के दिन थे। सुमेधा अक्सर उसे सिगरेट पीने से रोकती थी। अब सोचता है तो हँसी-सी आती है कि शुरु के दिनों में उसने सच में सिगरेट पीना छोड़ दिया था, लेकिन एक दिन अचानक फिर यह सब शुरु कर दिया कि पता ही नहीं चला। उन शुरु के दिनों में दिमाग में कैसा अजीब-सा जादुई जाल छाया रहता था। अचानक उसका लाइब्रेरी के मोड़ पर मिलना, उसके पैरों की आहट को पहचानने लगना; आँखों में हर वक्त इस बे-रहम दुनिया से बचकर मिलने की बेचैनी, और न जाने उसकी अदाओं का कैसा नशा-सा नसों में पिघलता रहता था। छाती में एक जुनून रहता था, जिसके जोश में वह सातवें आसमान की नींव तक तोड़ने की कल्पना करता था, या फिर कयामत को लाने का दम भरता था।

फिर एक दिन आया जब वे कुछ निडर होकर मिलने लगे थे। धीरे-धीरे ज़मीन पर भी उतरने लगे थे। . . . और एक दिन जब उसे लगा कि वह बहुत छोटा प्राणी है। इतनी बड़ी दुनिया में उसकी इकाई कुछ महत्व नहीं रखती—दूसरों के लिए। पर इससे क्या फ़र्क पड़ता है, वह सोचता था। उसे यह भी लगने लगा था कि यह ज़िन्दगी सब नाटक है, जिसके एक और अंश का समापन होने जा रहा है।

उस दिन वे दोनों कॉलेज-कैन्टीन के दायीं तरफ के एकांत चीड़ो में चले आए थे।

उसने ठिठक कर उसका नाम पुकारा था, "सुमेधा!"

"क्या?" उसने घूमकर देखा।

कोई पारदर्शी लकीर दोनों के बीच आ खड़ी हुई थी। अपने 'होने' की पहचान को वे अलग-अलग महसूस करने लगे थे।

"एक बात पूछूं?"

रहस्य का जाल दोनों के बीच आ ठहरा था।

"हाँ, क्या?" वह कुछ सहम गई थी।

"बुरा तो नहीं मानोगी?"

अपनी ही चुप्पी में कुछ भाँपते हुए वह खामोश खड़ी रही। सोचने लगी कि बुरा कैसा? उसका पूछा कुछ भी बुरा नहीं होगा उसके लिए, ऐसा वह सोचती थी या चाहती थी। वह धीमें से बोली, "पूछो।"

वह इस पूछने के ढंग पर कुछ अपने में सिमट-सा गया। इस 'पूछने' की अभिव्यक्ति का ढंग सोचने लगा . . . . और इसी बीच उसने एकाएक पूछ डाला, "तुम्हारे घर फिर लड़ाई हुई थी?"

सुमेधा ने गले का घूंट नीचे उतारकर इस सच को छुपाना नहीं चाहा—सिर्फ उसके लिए। वह जानती है कि छुपाने से वह सब बदलता नहीं जो हो चुका हो और किसी के सामने ऐसी बातों को उगलना खूब संतोष देता है। फिर भी उसने पूछा, "आपको कैसे पता?" यह उसका प्रश्न और उत्तर दोनों ही था।

वह धीरे से बोला, "पता चला था कहीं से, पर हुई क्यों थी?"

सुमेधा अपने में बंद होती चली गई। यह प्रश्न स्वयं भी उसमें कब से गूँजता है। क्या वह इसका जवाब दे पाई है? अगर अपने को दे भी पाई है, तो क्या? इसे कह, क्योंकि मन कह रहा है, और मन ग़लत नहीं कहता। किसी दूसरे को भी इस सवाल का जवाब ढूँढने का अवसर दे। जिस सवाल के जवाब में उसका दम घुटता है, उसे कहने का वह साहस कर बैठती है, "मैं तो इतना जानती हूँ कि जो डैडी कर रहे हैं, ठीक नहीं है।" कुछ हिचक के साथ उसने कह दिया। इतना सुनकर वह उत्सक हुआ।

"मैं समझा नहीं, तुम्हारे डैडी पीते हैं—इसलिए?"

"नहीं, यह बात नहीं है।"

"फिर।"

अपना चेहरा घुटनों के पास लाकर उसने एक ही साँस में कह दिया, "डैडी और सरोज के सम्बन्ध ठीक नहीं हैं।"

ज़रा चुप्पी बीतने पर उसने फिर कहा, "बनी, तुम्हें पता तो है यह सब।" यह वाक्य उसने घुटी साँस को मुक्त-सा करने के लिए कहा।

एक बार तो बनी को लगा कि उसने जो सुना वह महज़ एक भ्रम था। सुमेधा टप्-टप् आँखों से आँसू गिरा रही थी। ऐसे वक्त में दूसरे को समझकर समझना एक ज़रूरत-सी बन जाती है। वह बोला, "कैसे कह सकती हो कि डैडी ही ग़लत हैं?"

वह सिर घुटनों में दबाए बैठी रही।

डैडी ग़लत हैं, इस बारे में वह तर्क देना निरर्थक समझती है।

"देखो सुमेधा, दुनिया बहुत कुछ उल्टा-सीधा कहती है। और पहली बात तो यह है कि तुम लोग उस औरत को मुँह ही क्यों लगाते हो?"

सुमेधा सुनकर उसे मानों सब कुछ समझा देना चाहती थी। थकी हुई आवाज़ में उसने कहा, "जब मुँह लगाना छोड़ दिया, तभी तो यह सब हुआ।"

"क्या मतलब?"

वह उलझ-सी गई, "बनी, चलो अब। ये बातें न खत्म होने वाली हैं।"

ख़ामोशी का एक सिमटा हुआ-सा सन्नाटा कुछ देर उनके इर्द-गिर्द ठहरा रहा। फिर बनी बोला, "सुमेधा, मुझे बात बताकर अपना मन हल्का करो, इस तरह कुढ़ना ठीक नहीं होता। अगर मुझे नहीं बताना चाहती हो तो बात दूसरी है. . . . ।"

सुमेधा को जैसे कई छोटे-छोटे सदमे कचोटने लगे। हिरनी-सी खामोश आँखों से बनी को देखने लगी। क्या सच में वह उसे कुछ बताना नहीं चाहती? वही तो है जो उसे समझता आया है, और समझ सकेगा। फिर अपने खामोश चीत्कार को दबाना कैसा? और फिर वह उससे ऐसी कोई उम्मीद नहीं रखता कि कुछ भी उनके बीच कोई राज़ रहे—भले ही कोई घरेलू बात क्यों न हो? वह कहने लगी, "बनी, तुम ऐसा क्यों सोचते हो कि मैं तुम पर भरोसा नहीं करती। लेकिन मैं सोचती हूँ कि जिन बातों के बताने और न बताने पर कोई फर्क नहीं पड़ेगा, तो उन बातों को बताने से क्या फ़ायदा? . . . उस दिन जब वह आई थी, तो मम्मी ने उसे साफ ही कह दिया था कि यहाँ मत आया करे। बाद में उसने डैडी को बताया होगा। बस इसी बात पर डैडी पीकर हंगामा करने लगे।"

"तो इसमें डैडी की क्या ग़लती है?"

"क्यों, उस दूसरी औरत के लिए उन्होंने मम्मी को कितना ग़लत कहा। डैडी को हम बहनों का भी ख़्याल नहीं।" उसकी आँखों में लाली-सी उतर आई थी, "क्या हम अब बच्चे हैं, सब समझते हैं. . . ।" वह बीच में ही चुप होकर सिसकने लगी।

परदे के परे एक दुनिया है, उस दुनिया में दो घर हैं—एक में वह खुद है, और दूसरे में माँ, पिता, मंजुला, गीता, चुन्नु; और वहीं के कुछ सवाल हैं जिन्हें वह साथ ले आया है। उस घर को भूलने के लिए वह इस शहर में आ गया था, लेकिन उसका भुलावा ही उसे उसके अपने शहर से और ज़्यादा जोड़ता है।

डैडी की आवाज़ अभी भी उसके कानो में बजती है. . . ."तुम कभी भी ज़िन्दगी के फैसले सही नहीं ले सकते। जाओ, घर से बाहर निकलकर देखों एक बार, सब पता चल जाएगा . . . "

उसे हमेशा हैरानी होती है कि इतनी बड़ी ज़िन्दगी के फैसले हम बहुत थोड़े समय में कैसे ले लेते हैं।

. . . छिटके हुए अँधेरे में उसे चुन्नु के नन्हे-नन्हे हाथ दीखने लगे, जिन्हें वह कैसे मुँह में भर-भरकर चूमता था. . और कैसे उसकी किलक में अपनी हँसी को निचोड़ डालता। फिर गीता का स्पर्श. . . अपनी साँस को किस तरह उसके ठंडे होठों से छुआने लगता था—दिन भर की थकान के बाद, कतरा-कतरा बहती हुई रात में उसकी उंगलियाँ कंधे से नीचे सरकने लगतीं और गीता की बाहों में अजीब कशिश घिर आती थी, जिसकी पनाह में वह सो जाता था—बेचैन. . .बेखबर. . .।

. . . . और एकाएक उसे लगा कि जिन सवालों के जवाब वह उस वक्त ढूंढता था, आज भी वे वैसे ही खड़े हैं।

खिड़की के परे बहुत दूर उसका अपना शहर है, उस शहर से जुड़े कुछ सवाल हैं—जो ज़िन्दगी भर उसके संग चिपके रहेंगे। पिछले दिनों कई बार वह सोच चुका है कि वापस चला जाए। यहाँ आने के बाद उसने घर कोई चिट्ठी तक नहीं लिखी है। क्या सच में जब वह घर से चला था तो यह सोच लिया था कि चिट्ठी लिखेगा या नहीं? क्या वह कभी इस सवाल का जवाब दे पाएगा? . . . फिर वह सोचता है कि दिसम्बर में बर्फ़ गिरेगी और यह ज़िंदगी का उसका पहला स्नो-फॉल होगा। सच तब कैसा लगेगा?

रात का शो देखने के बाद मैं उसी के कमरे में सोने चला गया था। कमरा ठंड के कांटों में दांत कटकटा रहा था। बिस्तर में घुसने से पहले उसने हीटर पर चाय चढ़ा दी।

चाय पीते हुए मैने कहा था, "यार, तू तो अब शादी कर ले। तेरी नौकरी लगी है, बस ढूँढ ले कोई अच्छी लड़की। कहे तो मैं ढूँढ दूँ।" मैंने काफी लापरवाही में कहा था, फिर ज़रा हँसकर बोला, "कहीं ढूँढ तो नहीं रखी है?"

वह मेरी आँखों को पढ़ने लगा था, उन लफ्ज़ों को ढूँढ़ने लगा था जो मैंने कहें थे। उसकी भवें भी ज़रा तन आई थीं। हम दोनों के बीच मौन की एक लकीर अनायास ही आ ठहरी थी। मुझे अपने से ग्लानि-सी हुई थी; शायद यह कोई ठीक वक्त नहीं था वैसी बात करने का। परन्तु मेरी बात कुछ ग़लत भी तो नहीं थी; ऐसा मैंने उस पल सोचा था।

फिर उसका चेहरा कुछ बदल-सा गया था। उसने एकाएक पूछा, "क्या तू ईश्वर को मानता है?"

मैं ठिठका हुआ-सा उसे देखने लगा। उसके सवाल का सही जवाब देने की हिम्मत नहीं जुटा पाया था; शायद इसलिए कि अगर मैं ईश्वर को मानता हूँ—तो क्यों, किस कारण को लेकर। मैंने इसी बेसमझी में उसी का सवाल उसे दोहरा दिया था, "तू मानता है?"

उसकी आँखों में अजब-सी चमक उभर आई थी, उसने कहा, "हाँ, उसे मानना ही पड़ेगा, क्योंकि सृष्टि की धुरी जो कहीं ग़लत घूम रही है उसका दोष हम मनुष्य पर तो लगा नहीं सकते; क्योंकि यह उसे स्वीकार्य नहीं इसलिए ईश्वर पर ही इसका दोष लगाया जा सकता है, वरना कोई उसकी जगह नहीं ले सकता।"

निपट-सी ख़ामोशी कुछ देर कमरे में छाई रही। वह चुपचाप चाय के घूँट भरता रहा और मैं उन अर्थों को महसूसने लगा जो धीरे-धीरे सर्द हवा में सिकुड़ते जा रहे थे।

उसने फिर चुप्पी को तोड़ दिया था, "इस सण्डे का क्या प्रोग्राम है?"

मैं कुछ पल झिझका रहा, फिर कहा, "सण्डे का? हाँ। चलेंगे, तुझे मन्दिर दिखाकर ले आऊँगा।"

मन्दिर देखने का प्रोग्राम पिछले सण्डे का भी था, पर मैं घर के काम की वजह से न निकल पाया था।

वह एक खुला नीला दिन था। हम खाना-पीना वगैरह भी साथ ले गए थे। कई छोटी-छोटी पहाड़ियों को पार करने के बाद हम नई दुनिया में आ पहुँचे थे। वहाँ से हमने अपने शहर की पहाड़ी देखी थी—ऊँट की पीठ-सी। धूप की छतरियाँ पहाड़ियों के तलवों तक उतरी हुई थीं।

दिन भर पगडडियों को कुचलते-फिरते हम घूमते रहे थे। मन्दिर की पुरानी दीवार पर उसने अपना नाम भी लिखा था, और अपने शहर का भी—सैलानियों की तरह, अगले वर्ष तक जीने की चाह उन दो-चार लफ्ज़ों में जीवित रहती है, और यदि हम कभी अरसे बाद उस अपने नाम को वैसा ही लिखा हुआ पाएँ, तो वही चाह एक लम्बी चाहना बन जाती है—बहुत दिनों तक जीने की। उस दिन हमने बुरुंश के कितने ही लाल-लाल फूल तोड़े खाए थे, यहाँ तक कि हमारी जीभ भी काली पड़ गई थी। वहाँ की हवा में एक स्वप्निल स्वर बह आता था, मानो ऐसा स्वर हमने अपने बचपन में कहीं या ख्वाब में सुना हो.

शो से लौटने पर जब हम चाय पी लेते थे तो हमारी पहली नींद मर-सी जाती थी। इसलिए हम और गई रात तक रजाईयों में कैद होकर बातें करते रहते थे।

चाय के घूँट भरते हुए मैं उसकी आँखों को पढ़ने लगा था, बिल्कुल वैसे ही; जैसे कुछ देर पहले वह मुझे पढ़ने लगा था, मेरी कही गई बात पर। मैं खामोश था, इसी बीच उसने पूछ लिया, "तूने कभी अपने बारे में नहीं बताया।"

"अपने. . . ?" मैं असमंजस में पड़ा रहा, ज़िन्दगी के कौन से हिस्से के बारे में उसने मुझसे पूछा होगा?

मैं सोच में था कि तभी वह बोला, "अपने होने वाली पार्टनर के बारे में।" और वह हल्का-हल्का मुस्कराने लगा।

"अरे छोड़ यार, तुझे भी क्या ख्याल आ गया।" मैं काफी लापरवाह होता हुआ बोला।

यह पहली मरतबा था, जब हमारे बीच मेरी ज़िन्दगी के लिए किसी लड़की को लेकर बात शुरु हुई थी। एक छोटा-सा हल्का खुलापन हमारे बीच आ ठहरा था।

"तो तू क्या सोचता है, मुझसे छिपाएगा? मैं सब जानता हूँ।" वह मुझे जताते हुए बोला।

मैं जल्द ही अपनी पटरी पर आ गया, "अरे कुछ खास नहीं यार, बस यूँ ही शुगल।" यह कहते ही मैं एक छोटी-सी पीड़ा के दायरे में घिर गया कि जो मैंने कहा, क्या वह सच है? हल्का-सा अपराध-बोध मुझे पकड़े रहा हालाँकि जो मैंने कहा वह उतना सच नहीं था, जितने भाव से मैंने कह डाला था।

वह मुझे फिर वैसे ही देखने लगा, जैसे पहले चुप आँखों से देखने लगा था।

हमारे चुप होने पर कमरा भी मौन साध लेता था। जाड़े की चिंगारियाँ दरारों से भीतर आकर छितरती रहती थीं। परन्तु ठंड का ज़ोर जैसे हमारी ऐसी बातों को हरा नहीं पाता था।

उसने पूछा था, "क्या तुम्हें अच्छी लड़की की तलाश है?"

पहले तो मैं उसके पूछने के ढंग पर ठिठका रहा; फिर उसकी बात के अर्थ में। अधिक देर तक चुप रहना मुझमें हीनता-सी भरने लगा, मैं बोला, "ज़ाहिर है।"

"तो यह भी ज़ाहिर है कि तुम न चाहते हुए भी अभी किसी बुरी चीज़ से जुड़-जुड़ जाते हो।" वह मेरे लफ़्ज़ों की जीभ पकड़कर बोला था।

उसने मुझसे प्रश्न नहीं किया था, फिर भी मुझे अपने में झिझक महसूस हुई थी कि उसने कोई सवाल ही किया है। वह गम्भीर हो जाएगा, मैंने ऐसे नहीं सोचा था। मेरे पास उसकी बात का जवाब नहीं था। मैंने अपने को नकली तौर से लापरवाह और उदासीन करते हुए कहा, "छोड़ इन बातों को, जब तक नौकरी नहीं है, तब तक इनके बारे में क्या सोचना।"

चाय के घूँट ख़त्म हो गए थे। शो की बातें भी हुई थीं। बत्ती बुझाने के बाद हम अपने-अपने अकेलेपन में सिमट आए थे। बाहर रात की आवाज़ें जाड़े में ठिठुरती हुई चुप हो गई थीं। महज़ उसके शब्द धीमे-धीमे साफ़ आवाज़ में बोल रहे थे।

वह मुझसे तर्क नहीं करता था। सिर्फ़ अपनी बात कहकर चुप हो जाता था और मैं अकेला उस पर सोचता था। तब मुझे लगता था कि हमें अनंत दूरी का सफर तय करना है, कुछ जीने का रास्ता देखना है. . . . और न जाने कब नींद मुझे दबोच लेती थी. . .

दिसम्बर शुरू हो गया था। तब मुझे उसकी उदासी के बारे में संदेह होने लगा था। वह कहता कुछ नहीं था, महज़ अपनी परेशानी को पी जाता था। उसने मुझे अपने घर वग़ैरह के बारे में कुछ ख़ास नहीं बताया था। मुझे याद है, उसकी पहला स्नो-फॉल देखने की बहुत इच्छा होती थी और वह अक्सर कहा करता था कि हम उस पहले स्नो-फॉल को सैलिब्रेट भी करेंगे।

उस रात भी मैं उसके कमरे में सोने चला गया था। हालाँकि मैं उसे उन दिनों शामों को नहीं मिल पाया था। मैंने जैसे ही उसकी आँखों में देखा, मुझे अजीब-सा लगा। ऐसा लगा, मानों वह पिए हुए है, हालाँकि मेरे

सामने उसने कभी नहीं पी। परन्तु ऐसा भी नहीं था कि वह अपने को मुझसे छिपा लेना चाहता था। मैं अन्दर चला आया था। अपनी और उसकी परेशानी के बीच कुछ देर हम चुप बैठे रहे थे, फिर वह बोला था, "इस वक्त कैसे आया?"

"क्यों?" मेरे इस क्यों में कई और सवाल जुड़े थे, जिसे सुनने वाला अपने आप समझता है। अपने को बचाने के लिए मैंने इस सवाल को उसे दिया था।

वह मुझे पढ़ने लगा था, किसी हद तक मुझे समझ भी पाया था, इसीलिए उसने झिझक का पर्दा हटा दिया और खिड़की से जिन की एक बोतल निकाली और मेज़ पर रख दी। मैं काफी उत्सुक निगाहों से कभी बोतल को और कभी उसे देखने लगा। इससे पहले हमने कभी साथ नहीं पी थी, बीयर के अलावा।

'जिन' को गिलासों में उड़ेलते हुए वह कहने लगा, "लो पियो, यह झूठा सुख देती है, क्योंकि हम परेशानियों को भूल जाने के लिए इसे पीते हैं, लेकिन कुछ पीने के बाद हम एक और अलग तरह की परेशानी में अपने को बंधा पाते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि पीने से पहले हम परेशानियों को भूल जाने के उद्देश्य से ही पीते हैं, पर ऐसा नहीं हो पाता। क्योंकि जिस चीज़ को हम भूलने के लिए यह सब करते हैं, वह और तंग करती है, और इसीलिए हम इसे और पीते हैं। परिणाम यह होता है कि या तो हम गंदी नाली में गिरे होते हैं या परायों के बीच बेसुध पड़े रहते है।" उसने बयान-सा कर दिया। वह फिर बोला, "अच्छा, अब बताओ बात क्या है?"

मेरी चुप्पी को देखकर वह ही बोला, "हम अपनी परेशानियों को भूलने के लिए नहीं पी रहे। मैंने कहा न, अगर इसे यह सोचकर पिया जाए कि यह झूठा सुख देती है, तो इसके पीने में और अधिक मज़ा है। अच्छा बताओ. . . ." वह बीच में ही चुप हो गया। तनिक उत्सुकता में उसे देखने लगा, फिर एकाएक हल्के-से तैश में आकर जिन का घूँट भरा और कह दिया, "घर से झगड़कर आया हूँ।"

उसकी दृष्टि मुझ पर टिक गई। जो उत्सुकता कुछ देर पहले मेरी आँखों में उसके लिए थी, अब वही उत्सकुता उसकी आँखों में मेरे लिए भर गई थी। वह मुझे अपने एहसासों से टटोलने लगा और उन क्षणों का मौन हमें ठेलने भी लगा था।

'झगड़े' शब्द का तनाव साफ़ उसके माथे की लकीरों में झलक आया था। मुझे कुछ समझाने से पहले वह स्वयं कुछ समझना चाहता था।

वह एकटक मुझे देखते हुए बोला, "क्या तुम जानते हो कि इस दुनिया में सबसे कठिन और आसान एक ही काम कौन से हैं?"

वह मेरे उत्तर की प्रतीक्षा करने लगा। इसी बीच उसने एक घूँट और भरा।

मैं काफी लापरवाह होकर बोला, "छोड़ो, हमें क्या लेना-देना है।"

"नहीं" वह एकाएक बोला, "हमें इतना लापरवाह नहीं होना चाहिए।"

"क्यों?" मैं सोच में भी था।

"क्योंकि हम आसान काम करके कठिन कामों से चिढ़ने लगते हैं, और डरते हैं, और उससे दूर भागना चाहते हैं।"

"इससे फ़र्क क्या पड़ता है?" मैं तर्क पर उतर आया।

"पड़ता है, क्योंकि सभी को उन बातों में से होकर गुज़रना पड़ता है—इसलिए।"

कुछ देर मैं गिलासों को घूरता रहा। मेरी नसों में सोचा हुआ नशा भी रेंगने लगा था, मानों मैं नशे में हो गया हूँ।

"मैं जानता हूँ कि तू मुझे पिछले दिनों क्यों नहीं मिला। और यह भी जानता हूँ कि तू आज इस वक्त यहाँ क्यों आया है?. . . मैंने कहा न कि सभी को उन बातों में से होकर गुज़रना पड़ता है—जो सबसे आसान

हैं; पर कठिन भी।" कुछ रुककर वह फिर बोला, "क्या तू सच में सही बात पर अपने घर वालों से झगड़ा है।"

इस बार मैं उसे देखने लगा—बंधी हुई आँखों से, और धीरे-से कहा, "हाँ।"

"नहीं" उसने तपाक से मुझे घूरते हुए कहा, "कभी नहीं। झगड़ना सबसे आसान होता है और सबसे कठिन भी।" फिर वह कुछ धीमा होकर बोला, "कल मैं तेरे घर गया था। तू नहीं था वहाँ। मुझे सब पता चला। तू ने अपनी बहन को मारा—सिर्फ इसलिए कि इसके किसी से सम्बन्ध है। तू ने ठीक किया। . . . . पर क्या तू भी ठीक है? जिस लड़की से तेरे सम्बन्ध हैं, वह भी किसी की बहन हो सकती है। ऐसा लगता है कि मैं काफी घिसी-पिटी बात कह रहा हूँ। लेकिन अगर ऐसी स्थिति में तुम सोचते हो कि तुम ठीक हो तो दूसरों को भी ऐसा सोचने का अधिकार दो, वर्ना सारी दुनिया एक-दूसरे से झगड़ पड़ेगी।"

मैं चौकन्ना-सा होकर उसे देखने लगा। गिलास पर हथेली उठते-उठते रह गई।

बाहर का सन्नाटा भी जैसे हमारे इर्द-गिर्द घिरने लगा था। कुछ समय तक हम चुप बैठे रहे थे।

वह बोलने लगा, "हम अपनी झिझकने एक दूसरे से छिपाते हैं—यह जानते हुए भी कि हम ग़लत हैं। आदमी के साथ इससे बड़ी और क्या समस्या क्या हो सकती है कि वह ऐसी बातों को स्वीकारता नहीं।" कुछ रुककर वह फिर बोला, "मैंने तुम्हें अपने बारे में कुछ नहीं बतलाया है। मैं भी छिपाता रहा हूँ। मैं स्वीकारूँगा, सब कुछ स्वीकारूँगा—तुम्हाने सामने भी स्वीकारूँगा। मेरे लिए स्वीकारने से बड़ी मुक्ति और क्या है? पीड़ा से छूटना है तो स्वीकारो. . . .।"

उसकी पलकें जल्द ही भारी हो गईं।

". . . और दुनिया में सबसे आसान और मुश्किल काम, पता है क्या हैं?"

मैं अपलक उसे देखता रहा। एक छोटा-सा मौन फिर हमारे बीच आ ठहरा था।

वह कहता गया, . . . "वह है—पिता बनना। . . . . और . . . .किसी के लिए जीना।"

इतना कहकर वह ग्लानि से भर गया। फिर धीमे से मुस्कुराया, "मैंने कहा था न कि हम आसान काम करके कठिन कामों से चिढ़ने लगते हैं। डू यू नो, आइ एम ए मैरिड परसन? मेरे एक बेटा भी है, तीन वर्ष का—चुन्नु। और मेरी पत्नी-गीता . . . .मैं भी घर छोड़ आया हूँ—झगड़कर। जब हम छोटी-छोटी बातों पर झगड़ते हैं तो सब कुछ जानते हुए भी एक-दूसरे को दोषी ठहराते हैं। कई बातों में वह अपनी जगह बिल्कुल ठीक होती है और कहीं ग़लत भी। मेरे साथ भी कुछ ऐसा ही घटता है। यही बातें न ख़त्म होने वाले वाक्यों को जन्म देती हैं।"

हमारे गिलास खाली मुँह किए मेज़ पर पड़े थे।

"हमारे लिए कुछ 'होना' ही काफी नहीं है, क्योंकि जो हम होते हैं—वह तो सहज ही है, इसलिए उस 'होने' के होते हुए 'बनना' आवश्यकता है। मैं एक पिता हूँ, लेकिन यह काफी नहीं है. . . . तुम सुन रहे हो न . . . ?"

मैं सब सुन रहा था। एक-एक लफ़्ज़ को महसूस कर रहा था। जिस पीड़ा में वह कह रहा था, वैसी ही गम्भीरता में मैं ग्रहण कर रहा था।

"तू और लेगा?" उसने बोतल की ओर इशारे से मुझसे पूछा।

"नहीं"

उसने ढक्कन चढ़ाकर बोतल खिड़की में रख दी।

मैं आश्चर्य से उसे देखने लगा। वह घर छोड़ आया है; अपने माता-पिता, बहन, पत्नी और बच्चा। सबको छोड़ आया है। सच में सिर्फ़ 'होना' ही काफी नहीं होता। 'बनना' रिश्तों के माँयने रखता है। मुझे अपने झगड़े

उसके सामने बहुत छोटे लगने लगे। सच में झगड़ा कितना आसान होता है और अपने लिए जीना भी. . . .

"सुन", उसने कहा।

मैंने चेहरा उठाकर देखा।

"अगले महीने शायद मैं चला जाऊँगा।"

"कहाँ।" मेरे होठों से अनायास ही निकला।

वह मुझे देखने लगा, मानो बिना कहे ही सब कुछ समझा देना चाहता हो।

उसने लिहाफ़ को अपने ऊपर ओढ़ाते हुए कहा, "इस शहर की गर्मियाँ और बरसात तो देख लीं, अब सर्दियाँ भी देख लूँ। स्नो-फॉल देखने की इच्छा भी है।"

मुझे देखते हुए वह फिर बोला, "क्या बात है, ऐसे क्यों देख रहा है?"

"नहीं वो, नौकरी छोड़ देगा क्या?"

वह मुस्कुराने लगा, "इस पराए शहर में नौकरी के सिवा और क्या है? ऐसी जगहों से सम्बन्ध नहीं छूटते और बाकी सब छूट जाता है। और फिर जिसे छूट ही जाना है, उसका आज और कल क्या?"

कुछ देर बाद हमारी बातों ने मौन साध लिया। अब तक कमरे का ठंडापन और सहम गया था। कुछ भी ऐसा नहीं बचा था, जिसके बारे में तर्क लिया-दिया जा सके। उसने सिगरेट सुलगा ली थी और हम खाली हवा में धुएँ के छल्लों को देख रहे थे।

रात की ठिठुरन कमरे की दरारों से अन्दर आ रही थी। कुछ देर हम सिर्फ़ एक दूसरे की साँसों को सुनते रहे थे, फिर बत्ती बुझा दी थी, उस वक्त अजब से अँधेरे ने अपना मुँह फाड़ डाला था। कितनी रात गए तक मैं इसी अँधेरे में पलकें झपकता रहा था।

आधा दिसम्बर बीत गया था। शाम बीतते ही धुंध का काफिला मकानों की छतों को काटने लगता था। दिन भर सूरज का ताप बहती हवा से जूझता रहता था। अँधेरा होने से पहले पूरा शहर ठंड में काँपता हुआ खामोश हो जाता था। सारा दिन चलते हुए हल्के-हल्के बादल दूर ऊँची पहाड़ी चोटियों पर इक्कट्ठा होने लगते थे. . . .और हम इसी आतंक से बचने के लिए कमरे में ही शामें बिताने लगे थे।

मुझे जब पता चला कि पिछली रात उसके पेट में दर्द उठा था तो मैं अगले दिन इसके पास गया। एक ही रात में उसका चेहरा मानों खण्डहर हो गया हो।

मैंने हल्की घबराहट में पूछा, "यह अचानक कैसे हुआ?"

उसने पलकें उठाईं, हल्की-सी मुस्कान उसके चेहरे पर थी, वह बोला, "कैसे हुआ, यह तो नहीं जानता. . . ." और बीच में ही चुप लगा गया।

मैंने इसके माथे पर उंगलियाँ रखते हुए कहा, "क्या बुखार भी है?"

"हल्का-सा"

मैं मेज़ पर रखी दवाओं को उलट-पलटकर देखने लगा, फिर बोला, "मुझे ख़बर क्यों नहीं भिजवाई, मैं माँ को यहाँ भेज देता।"

वह मेरे शब्दों को बटोरने-सा लगा, मानों इसमें अपार सुख छिपा हो। 'माँ' लफ़्ज़ की भूख साफ इसकी आँखों में उभर आई, मानों माँ की ज़रूरत आदमी को मृत्यु तक होती है। मेरे बाजू को थामते हुए वह बोला, "ये साथ वाले आ गए थे।"

मैं फिर उन वाक्यों को खाली हवा में ढूंढने-सा लगा, जो उसे कहने पर सुख दे सकते थे। मुझे कुछ खास न सूझा, तो पूछा, "चाय पीएगा, बना दूँ?"

उसने हल्की-सी करवट लेते हुए हामी भर दी।

चाय पीते हुए उसने खिड़की से डायरी निकालकर उसमें दबा हुआ एक ख़त खींचा और मुझे दे दिया। कुछ पल वह ख़त चौकन्ना-सा मेरी उंगलियों में फंसा रहा। मैं असमंजस में उसे देखता रहा। मेरी तरफ करवट लेते हुए वह बोला, "पढ़ो इसे।"

"लेकिन . . . " मैं ठिठक गया।

"पढ़ लो, मेरी बहन का है—घर से आया है।"

मैंने आहिस्ता से उसकी पर्तें उघाड़ दीं और पढ़ने लगा—

प्रिय भाई बनी,

पहली बार आपको पत्र लिख रही हूँ। आशा करती हूँ कि आप वहाँ आराम से होंगे। मुझे आपका भेज हुआ बर्थ डे कार्ड मिल गया है, पर उसके बाद आपका कोई पत्र नहीं आया। मैं भी आपको जल्दी नहीं लिख सकी थी, क्योंकि मेरी परीक्षा चल रही थी। आजकल क्रिसमस की छुट्टियाँ चल रही हैं।

पिछले हफ़्ते गीता भाभी घर आई थी—चुन्नु को लेकर। उन्हें एक अकेडमी में नौकरी मिल गई है। चुन्नु को रखने की समस्या है, इसलिए वह हमारे पास ही रहेगा, जब तक किसी आया वग़ैरह का इंतज़ाम नहीं हो जाता। पहले तो भाभी मान ही नहीं रही थी, मैंने ही ज़िद्द करके उसे अपने पास रखने को राज़ी किया है। वैसे मुझे ये सब भाभी ने आपको लिखने को नहीं कहा है, मैं अपनी मर्ज़ी से यह ख़त लिख रही हूँ। चुन्नु अब तो काफी दौड़ता-भागता रहता है। उसकी आदतें बिल्कुल आप जैसी हैं। घोड़े देखने की भी बहुत ज़िद्द करता है।

पिछले दिनों पापा भी बीमार रहे थे। डॉक्टर ने पीने को सख़्त मना की है। भईया, अपने बारे में लिखना। आप यहाँ आना चाहते हैं तो हमें खुशी होगी। आप मेरे, पापा-मम्मी के लिए न सही, चुन्नु के लिए लौट आइए। हम सभी लोग कितने खुश थे, पल में सब जाने कैसे हो गया? और अब अधिक क्या लिखूँ, आप खुद समझदार हैं। प्यार के साथ लिखना बंद करती हूँ। पत्र का उत्तर दीजिएगा।

आपकी छोटी,

मंजुला।

ख़त बंद करने के बाद सहमी हुई-सी ख़ामोशी हमारे बीच ठहरी रही। चुप्पी को तोड़कर वह एकाएक बोला, "सुन, क्या तू ईश्वर में विश्वास रखता है?"

मेरी पुतलियाँ उसके होठों पर टिक गईं। व्यंग्य भरा विरोध मेरी नसों में फूट पड़ा, इसीलिए मैं बोला, "जो कभी दिखाई नहीं देता, उस पर विश्वास कैसा? अपने आप को धोखा देने से अधिक कुछ भी नहीं है।"

वह एकटक देखता हुआ मुझे बोला, "ऐसा नहीं है, वह दीखता नहीं; इसीलिए धोखा भी नहीं देता।" और वह करवट लेकर चुप हो गया।

उसके चले जाने के बाद मैं फिर अकेला हो गया था। परन्तु हर बीता हुआ दिन मुझे इस बात की खुशी से भर देता था कि मेरा उसके पास जाने वाला दिन समीप आता जा रहा है। दस-पंद्रह दिन काट आऊँगा। कुछ काम वग़ैरह की भी शायद बात हो जाए।

. . . . और एक दिन एक ख़त मेरे नाम आया। लिफ़ाफ़े में दो ख़त थे। मैं पढ़ने लगा. . .

—भाई,

नमस्ते।

पहली बार आप को पत्र लिख रही हूँ। भईया ने मेरे बारे में आपको बताया होगा। मेरा नाम मंजुला है। मैं बनी की छोटी बहन हूँ। बनी भईया ने आपके बारे में हमें बताया था, इसीलिए आपको पत्र लिख रही हूँ।

23 तारीख को आपका यहाँ आने का प्रोग्राम था। भईया को इस बात की बहुत खुशी थी। लेकिन उनकी खुशियाँ अब सदा के लिए ख़त्म हो चुकी हैं। इसी 7 तारीख को भईया नकोदर बस हत्या काँड में मौत का शिकार हो गए। अब भईया कभी हमारे पास नहीं आ सकते। उधर भाभी की तबीयत भी काफी ख़राब चल रही है, इसलिए हम सभी कुछ दिनों के लिए उन्हीं के पास जा रहे हैं। मैं आपको इत्तलाह करना चाहती थी। जाने से पहले भईया ने मुझे यह दूसरा ख़त पोस्ट करने को दिया था। उस दिन न कर सकी थी, जिसे मैं अब भेज रही हूँ।

अब और अधिक क्या लिखूँ। फिर कभी समय मिलें तो हमारे पास आईएगा।

आपकी बहन,
मंजुला।

फिर दूसर ख़त खोलकर पढ़ा—

प्रिय मित्र,

तुम्हें ढेर-सा प्यार।

मैं यहाँ आराम से पहुँच गया था। लेकिन कुछ देरी बाद ख़त लिख रहा हूँ। मैं जानता हूँ कि तुम बड़ी बेसब्री से मेरे पत्र का इंतज़ार कर रहे होंगे, क्योंकि तुमने मुझे तब भी ज़ोर की आवाज़ लगाकर; पत्र जाते ही लिखने को कहा था, जब मेरी बस कुछ दूर निकल गई थी। देरी से लिखने की क्षमा करो।

सबसे पहले मैं तुम्हें अपनी तबीयत के बारे में ही बता दूँ। वहाँ से लौटने के बाद स्वस्थ हूँ। डॉक्टर से चैकअप करवाया है। कल एक्सरे के लिए क्लिनिक जाना है। बाकी तुम किसी प्रकार की चिंता मत करना। मैं अब बिल्कुल ठीक हूँ—वैसा ही तगड़ा—घोड़े की तरह।

ख़ैर ये सब छोड़ों, अपनी सुनाओ। तुम आजकल खूब बोर होते होंगे। चलो, 23 को तुम यहाँ होगे, फिर तुम्हारी पिछ्ली सारी बोरियत दूर कर दूँगा। बहुत-सी बातें हो गईं हैं करने को। मैं तुम्हारी उस ट्रेनिंग के बारे में भी पता करके रखूँगा।

आजकल तो वहाँ खूब ठंड पड़ रही होगी। अरे, बाप रे, सुबह तक पानी में रखे भांडे कैसे जम जाते थे। वहाँ क्रिस्मस पर स्नो-फॉल हुआ या नहीं?

अच्छा अब पत्र लिखना बंद करता हूँ। और तुम भी ख़त बंद करके अटैची खोलकर सामान पैक करना शुरू कर दो। मैं तुम्हें अड्डे पर लेने आ जाऊँगा, फिकर मत करना कि इतने बड़े शहर में तुम्हारा कोई नहीं।

बाकी मिलने पर।

तुम्हारा अपना,
बनी

पत्र पढ़ने के बाद कई छोटे-छोटे सदमों ने मेरे अन्तर में अपने मुँह फाड़ डाले। अजब-सा सन्नाटा गले में आकर कहीं रुक गया। मेरी हुलस में अनजानी-सी धिक्कार भर गई, पर पता नहीं किसके लिए।

एकाएक मेरे अन्दर एक विद्रोह फूट पड़ा-सृष्टि का सबसे झूठ-'नहीं', मानो पूरे ब्रह्मांड में फैलने लगा। ऐसा क्यों है कि जो नहीं है, फिर भी वह है। एक ऐसा प्रश्न जिसका उत्तर देने वाला कोई तो है।

मैंने दोनों ख़त फाड़ कर चिंदी-चिंदी कर दिए . . . . और इसी विश्वास में घुटने टेककर पहली बार प्रार्थना करने लगा कि जो दीखता नहीं, शायद वह इसीलिए धोखा भी नहीं देता . . . .

और इस भरी जवानी में मेरी आँखों से पहली बार आँसू टपकने लगे . . . .

[खादी एवं ग्रामोद्योग बोर्ड, काँगड़ा, हि. प्र., 176001]

उसकी वापसी

❑ देवेन्द्र चौबे

चलते-चलते, एकाएक ठिठककर, वह खड़ा हो गया—" . . . क्या मैं जो कुछ भी कर रहा हूँ वह ठीक है? . . . कितनी बदनामी होगी पापा की! . . . . क्या मैं लौट जाऊँ? . . . . नहीं! . . . . नहीं!! जब एकबार बाहर निकल गया हूँ तो वापस लौटने की बात ही कहाँ रह जाती है? . . . . पर . . . . "। लेकिन वह ठहरा नहीं, चल पड़ा। सामने मुख्य सड़क थी। छोटी-मोटी गाड़ियाँ आ-जा रहीं थीं। कभी-कभार इक्का-दुक्का साइकिल वाले भी गुज़र जाया करत थे।

मोड़ पर पहुँचते ही एक बार वह फिर ठिठका—"लोग क्या सोचेंगे? . . . माँ . . . माँ तो बड़ी दुःखी होगी! बाबूजी उन्हें खूब ताना देंगे। . . . और चढ़ाओ बेटे को! बड़ा दुलारा था न। कितनी बार कहा, इतनी छूट मत दो! मत दो! . . . पर, मन तो सहका दिया था न? . . . " आदि-आदि।

"कहाँ चलना है बाबू?" टैक्सी रोकते हुए ड्राइवर ने पूछा था। बिना कुछ कहे-सुने दरवाजा खोल वह अंदर बैठ गया था—"कहाँ?" उसे खुद भी तो नहीं पता था कि वह कहाँ जा रहा है? सच में कृष्णकांत जी ठीक ही कहा करते थे, "हर शरीर में दो आदमी होते हैं—एक बाहर वाला और दूसरा अंदर वाला। बाहरवाला सब कुछ सोच-समझकर कोई निर्णय लेता है . . . पर . . . पर अंदर वाला बड़ा ठोस निर्णय लेता है, बिना किसी से प्रभावित . . . सदा अपने में ही मस्त!" कभी-कभी वे कहा करते थे, " . . . आदमी का मन ही मंजिल तक पहुँचने का सबसे बड़ा और सही रास्ता है। जब मन किया तब सोच दौड़ता हुआ चल पड़ता है . . . नितांत अकेला . . . बिना किसी बैशाखी, बिना किसी लगाम के।"

"बाबू कहाँ जाइएगा?" टैक्सी वाले की आवाज़ से उचक कर उसने बाहर की ओर देखा—"बड़ा मोड़" आ गया था। अब भी निर्णय उसके हाथ में था, पर . . . पर वह रुका नहीं—"बस, यही रोक दो . . . " और दरवाज़ा खोलकर वह उतर पड़ा था। पाँच का नोट ड्राइवर की ओर बढ़ाते हुए उसने पूछा था—"ये . . . ये धनबाद की बस कितने बजे है? . . . " शुरू में स्वर कुछ काँप से गये थे। पर शीघ्र ही वह संयत हो गया था। नज़रें चौकन्ना थीं, पता नहीं कोई परिचित टोक दे।

"बाबू छुट्टा नहीं है?" ड्राइवर खुदरा मांग रहा था। उसने जेबें टटोली, खुदरा नहीं था—"नहीं भाई! नहीं . . . " कहते हुए वह चिहुंककर पीछे हट गया था। बगल से सर्र-सर्राती हुई एक जीप निकल गई थी। अंदर-ही-अंदर सिहर उठा था, वह।

ड्राइवर पैसे लौटा रहा था। अपने मन पर नियंत्रण पाने की भयानक कोशिश करता हुआ, वह पैसा ले

सड़क पार करने लगा। सड़क पार करते-करते वह अपने में पूरा सिमट गया था। धनबाद वाली बस सामने खड़ी थी। खलासी ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला रहा था—"धनबाद! धनबाद!! . . . आइए साहब! धनबाद, जाना है? आइए! आइए!! धनबाद . . ."

बस में चढ़ते-चढ़ते उसके पाँव पुनः ठिठक गये थे। तीन घंटों का यह अंतराल उसे बार-बार टोक रहा था—"अब वह समय आ गया है, जब मुझे अंतिम निर्णय ले लेना चाहिए . . ." तभी पीछे वाले खलासी ने सीटी दी थी—"लौट चलूँ? . . . लेकिन फिर वही बातें! वही ताने! आखिर कब तक सहूँगा मैं? सहने की भी तो एक सीमा होती है . . . " मन और व्यग्र हो उठा था— . . . आज की बात नहीं है. . . पिछले तीन वर्षों से वह घुटन भरे माहौल में अपंग-सा ज़ीता आ रहा है। कितनी बार दबाया था उसने अपने आपको। लेकिन फिर वही बातें, वही ताने! बार-बार यह कहना कि विवेक ऐसा है, विवेक वैसा है . . . कुछ तो सीखो उससे! . . . मन सारी गाँठों को खोलता हुआ बार-बार सवाल कर रहा था . . . । वह अबूझ पहेली-सा खड़ा, सीढ़ियों पर भटकता जा रहा था.....।

बस चल पड़ी थी—"चढ़िए साहब! चढ़िए . . ." खलासी ने उसे लगभग टांगते हुए बस के अंदर धसोर दिया था। वह कुछ बोला नहीं, चुपचाप जाकर खिड़की वाली सीट पर बैठ गया।

"मुझे लड़ना होगा!"

"किससे?"

दूसरा मन तर्क कर उठा था—"अकेला आदमी कर भी क्या सकता है?"

"लेकिन, मैं और अधिक घुटना नहीं चाहता। जो करना होगा, घर से बाहर रहकर कर लूँगा! कम-से-कम एक बंधन तो नहीं रहेगा न! बहुत सहा, अब बस! इतना ही काफी था . . . "

बस भागी जा रही थी। साथ ही उसका मन शहर पीछे छूट गया था। चारों ओर खेत में धान लहलहा रहे थे। सूर्य अस्त हो चुका था। इक्का-दुक्का गाँव के लोग सड़क पर आ-जा रहे थे। एक साइकिल वाला कैसे-कैसे भागा जा रहा था—"पोंऽ ओ! . . . पोंऽ ओं!!" की आवाज़ के साथ ही जब बस उसके पास से गुज़री तो वह हड़बड़ाकर सरपट धान के खेत में उतर गया था . . . मन कुछ हल्का हुआ था . . .

"स्साला! देखकर नऽ . . ." साइकिल वाले ने गुस्साकर बस की ओर देखा था।

"चुप रह, बबुआ! ना त सेल्ह जइब तब पता चली . . . " खलासी ने उचक कर उसे घुड़की दी थी, फिर "फटाक्!" से दरवाज़ा बंद कर लिया था। बेचारा साइकिल वाला सुन भी नहीं पाया था, नहीं तो ज़रूर कहता—"ठहर! ठहर!! बतावतनी . . . " पर उसे इसका मौका ही कहाँ मिला? वह भी तो इसी तरह घुट-घुटकर रह जाता था। लेकिन यह घुटन और वह? बड़ा फर्क था, दोनों में।

"क्या मैं सचमुच जा रहा हूँ? . . . " एक बार फिर मन तक-वितर्क कर उठा था—"आखिर, वे कर ही क्या सकते थे? रोज़-रोज़ के घुटन भरे माहौल, ऑफिस की कुढ़त—कितना टूट जाते थे वे। कभी-कभी तो बड़ी दया आती थी उन पर। सच टूटा हुआ आदमी कितना बेबस और लाचार हो जाता है, इसे उसने बड़ी नज़दीक से महसूस किया था . . . कितनी मुश्किल से तो घर का खर्च चलाते थे वे! . . . " मन भावुक हो उठा था। पर दूसरे ही क्षण वह फिर व्यग्र हो उठा था—"वह तो ठीक है . . . पर इसका मतलब यह नहीं कि दिन भर अपने ही लोगों पर कुढ़ते रहो? ऑफिस का सारा गुस्सा आकर हम सब पर उड़ेल दें? . . . यह कहाँ की बात थी कि बार-बार आकर टेबुल घूरते रहें कि पढ़ रहा है या नहीं? घंटा भर बाहर रह गया तो सब पूछते थे—"कहाँ थे?" "क्या वही एक लड़का है? मुहल्ले में तो और भी कई लड़के हैं। उनके पापा-मम्मी तो कभी इतने तीखे ढंग से नहीं पूछा करते थे? . . . वह परेश भी कितना खुशहाल रहता है. . . उसके मम्मी-पापा

Hira Lal Thakur
BADAH P.O. MOHAL
KULLU-175126 H.P.

तो कभी नहीं डाँटते? . . . वह भी तो तीन भाई हैं. . . पर . . . पर क्या कारण है कि ये ही बराबर डाँटते रहते हैं? बात-बात पर कूढ़ते रहते हैं . . . " सोचते-सोचते उसका भावुक मन और कठोर हो उठा था—"अभी उस दिन ही तो शाम को साढ़े-सात बजे घर लौटा था तो सब पूछने लगे थे—कहाँ थे इतनी देर तक? दिन में पूछे तो कोई बात नहीं, वह भी शाम के समय?. . . " सुबह दौड़ता था तो वह भी किसी को रास नहीं आया—"सर्दी लग जाएगी। परीक्षा है . . . " नहीं! नहीं! अब वह नहीं लौटेगा, घर। . . . जैसे होगा, समय गुज़ार लेगा!" मन बार-बार सीमाओं का अतिक्रमण कर रहा था। आँखे भर आई थीं—". . . रोज़ सोचता था, पापा आज नहीं डाटेंगे . . . लेकिन शायद ही कोई दिन होगा, जब किसी-न-किसी ने कुछ नहीं कहा होगा। . . . "

"आज दिन में अरुणेश कितना खुश था। कह रहा था—" अंशु पिक्चर देखने जा रहा हूँ, चलोगे?"

"नहीं यार, परीक्षा है! माँ नाराज़ हो जाएगी।" वह टाल गया था। मन कई दिन से उदास था। घर की घुटन से वह ऊब चुका था। अगले मोड़ पर रवीश से भेंट हो गई थी, साथ में उमेश भी था—"कैसे हो, अंशु? बड़ा उदास दीखते हो? कुछ खास बात है क्या?"

"नहीं! कोई खास बात नहीं है। तीन-चार दिन से मन नहीं लग रहा है। घर में जाता हूँ तो वह काटने को दौड़ता है . . . हमेशा डर लगता है कि कहीं पापा से सामना न हो जाए। . . ."

कुछ और बात नहीं हो पाई थी। सामने से बड़े भाई को आता देख, वह लौट पड़ा था। मन-ही-मन सोचते जा रहा था . . . ये सब कितने खुश हैं। क्या पापा मुझे कभी ऐसा माहौल दे पायेंगे? शायद-ही! शायद ही!! . . . " मन फिर कहीं भटक गया था—"अभी उस दिन की ही बात थी। किताब लाने के लिए श्याम को पैसा दिया था तो पूछ रह थे कि क्या हुआ? किताब नहीं मिल पाई थी . . . यहाँ तो बात-बात में हिसाब चाहिए!"

"है! . . . कोई भाई ताँतरी? ताँतरी?" खलासी की आवाज़ सुनकर सहसा उसकी तंद्रा भंग हो गई। धनबाद पहुँचने में पौन घंटे की देर थी। रुकते हुए बस पुनः चल पड़ी थी।

". . . तीन दिन से कोई बात नहीं कर रहा था। यही स्थिति सह्य नहीं होती थी। सब कुछ ठीक है . . . पर . . . पर कोई बात न करे तो आदमी रहे कैसे? माँ वैसे ही ज़िद्द कर लेती है। चाची को मैं कोई दोष नहीं देता, पर उनको भी तो समझना चाहिए कि इतना टेनसन में आदमी कर ही क्या सकता है? यही न ग़लती हुई कि मैंने उनके भतीजे को खाना नहीं पहुँचाया? वह भूखे ही चला गया . . . पर . . . पर मैं कर भी क्या सकता था? सबकी हालत तो वैसी ही थी . . . "

बस भागी जा रही थी। साथ ही उसका मन! अपने लोग और कई बातें।

"जिजीविषा!!! . . . कितनी सुंदर, कितना प्यारी . . . " कई बार सोचा था इस कुढ़न का गला ही घोंट दें। पर . . पर ऐसा नहीं कर पाया, वह! आखिर क्यों होता है ऐसा? सब कुछ समझते हुए भी आदमी क्यों गलतियाँ करते जाता है? क्या इसलिए कि भोगे हुए यथार्थ का अनुभव खुद कर सके? मन के मीत को परमार्थ में बदल देने की प्रक्रिया का गला ही घोंट दे? . . . मन! . . . यही तो सारी विसंगतियों की जड़ है!" कृष्णकांत जी ठीक ही कहा करते थे—"इस संसार में जीवन का भी कुछ प्रयोजन है . . . इसीलिए तो उसने कभी आत्महत्या का विचार नहीं किया . . . दूर हट जाना चाहा . . . पर दूरी को तोड़ना? . . . वह . . . वह तो उसने कभी नहीं चाहा! . . . तो . . . तो आखिर जीवन का प्रयोजन है क्या? संशय और अंकुश के बीच घुट-घुटकर जीते रहना? दिमाग की नसों को तोड़ते हुए असीम व्यथा की अभिव्यक्ति देना? बस! . . . इतना ही? . . .

"हाँ, इतना ही!"

अंतर्मन की स्वीकारोक्ति पर विहंस उठा वह। क्रूरतम अँधेरा सहसा आलोकित हो उठा—"जीवन का प्रयोजन कुछ है . . . ज़रूर कुछ है! . . . "

बस भागी जा रही थी, साथ ही उसका मन। धनबाद अब आने ही वाला था। चारों ओर रात सिमट आई थी। बस में कुछ लोग ऊँघ रहे थे। कुछ लोग अलसायी हुई आँखों से बाहर कुछ तलाश रहे थे—"किसको?. . . मन को? हाँ। उसकी तलाश भी तो सबको करनी पड़ती है।" जम्हाई लेते हुए उसने एक लंबी साँस ली। बस शहर में प्रवेश कर रही थी। बैंक मोड़ पर काफी भीड़भाड़ थी। इतनी भीड़ में भी ड्राइवर जिस तेजी से गाड़ी चला रहा था, उससे उसके मन को राहत ही मिल रही थी। मिलती भी क्यों नहीं? पीड़ा समाप्त हो जाने का जो एहसास था। चिंतित था तो केवल दिमाग। वह भी तो कहीं भटक रहा था।

सहसा एक झटके के साथ बस रुक गई। यात्री उतरने लगे। वह भी अपने बोझिल मन को मुट्ठियों में समेटकर उठ खड़ा हुआ, फिर शरीर की अकड़न को झटकारता हुआ, सीढ़ियों से नीचे उतर पड़ा। अब मन कुछ हल्का लग रहा था। एक गहरी साँस खींचते हुए उसने उसको एकाग्र किया, फिर लंबे-लंबे डग भरता हुआ टिकट काउंटर की ओर चल पड़ा। चारों ओर काफी भीड़भाड़ थी। काउंटर पर लंबी लाइन लगी हुई थी। एक देहाती किस्म के आदमी के पास जाकर वह खड़ा हो गया—"कहाँ जा रहे हैं भाई साहब आप?"

"मैं? दुर्गापुर . . . दुर्गापुर जा रहा हूँ . . . " पढ़ा-लिखा आदमी था, वह—"क्या काम है, आपको?"

"ज़रा मेरा भी टिकट ले लेंगे? कलकत्ते का?. . ."

"दीजिए, यह कौन-सा भारी काम है।" कहते हुए उसने उसके पैसे ले लिये।

टिकट लेकर प्लेटफार्म की सीढ़ियों से उतरते हुए एक बार फिर ठिठका था वह—"सच, मैं घर छोड़कर जा रहा हूँ? . . . अब तो टिकट भी ले लिया है। एक बार जब निकल पड़ा तो फिर लौटना कैसा? . . ." और अगले क्षण अपनी सोच-प्रक्रिया को बंद करते हुए वह प्लेटफार्म पर आ गया था। ट्रेन के चलने में अभी कुछ देर थी। ऊब मिटाने के लिए वह प्लेटफार्म पर इधर-उधर भटकने लगा। जब पाँच मिनट बाकी थे, तो वह चाय की दूकान पर आ खड़ा हुआ—पर चाय बड़ी कड़वी थी। मन और खराब हो गया। पैसा देकर बिना कुछ कहे-सुने वह सामने वाली बोगी में चढ़ गया। सभी सीटें भर चुकी थीं। दूसरी बोगी में गया। वहाँ भी वही हालत थी। अंत में उसने पूरी ट्रेन छान मारी कहीं भी खाली जगह नहीं थी। अंत में एक बोगी के दरवाज़े पर आ खड़ा हुआ था वह।

गाड़ी खुलते ही मन एक बार फिर ठिठका था—"आज . . . आज के बाद फिर इधर कभी नहीं आ पाऊँगा . . . कल सुबह कलकत्ते में रहूँगा"

"क्या करुँगा वहाँ?"

"नौकरी?" "कैसी?" "जैसी भी मिले।"

". . . लेकिन देगा कौन?" यहाँ आकर मन आशंकित हो उठा था। परत-दर-परत खुलने का अहसास लगता है, अंदर से कहीं टूटता जा रहा था वह! जीवन की आशाओं को चीरती हुई यह स्थिति यकायक इतनी भयानक हो उठेगी, इसकी उसने कल्पना भी नहीं की थी। उसके रोम-रोम काँप उठे . . . भूख, दर्द और पीड़ा से बिलबिलाती रांची के स्टेशन पर पड़ी वह जीवित लाश चटख उठी थी . . . मानो कई चिताएँ चट्-चट् करके एक साथ जल रही हों। कई भूत एक साथ भविष्य बन रहे हों . . . "

गाड़ी सीटी देती पटरी पर भागी जा रही थी। साथ ही, भागा जा रहा था उसका मन! अतीत! और वहाँ की सारी आशाएँ! और उस पर टिका हुआ सारा जीवन।

कुल्टी में गाड़ी मिनट भर के लिए ठहरी थी। हाँफता-दौड़ता एक बूढ़ा, उसे धसोरकर डब्बे में चढ़ आया था। एकाएक जैसे उसकी तंद्रा भंग हुई थी—"थोड़ा किनारे रहा करो बाबू! आने-जाने वालों का भी ख्याल करो. . ."

"जीऽ . . . " उसकी मासूम हुई, दबी आवाज़ सुनकर बूढ़े ने एक बार उसकी ओर देखा था, फिर बैठे हुए लोगों को देखते हुए, सामने वाली खाली सीट पर आ बैठा था। ट्रेन चल पड़ी। वह फिर बाहर की ओर देखने लगा था। दोनों ओर की छोटी-छोटी पहाड़ियों को काटकर बनाया गया यह रास्ता, बड़ा ही सुंदर लग रहा था उसे इस बात का ज़रा भी आभास नहीं हो रहा था। कि बूढ़ा उसे बार-बार घूरकर देखता जा रहा है। एकाएक उसकी नज़र बूढ़े वाली सीट के पीछे जा पड़ी जहाँ एक परिवार खाने की तैयारियाँ कर रहा था। सहसा वह विस्मित हो उठा। आँखों का सूनापन फिर बढ़ गया। औरत की नज़र-से-नज़र मिली, पर उसने नज़र फेर ली। वह अपने बच्चों को अखबार के टुकड़े पर परांठे और सब्जी देने लगी थी। छोटा बच्चा कह रहा था—"एक और जलेबी दो न माँ।"

वह चुपचाप खड़ा एकटक ही उसे देख रहा था। करीब उसी की उम्र का था, उसका बड़ा लड़का। उसने चुपचाप जलेबी का एक टुकड़ा उठाकर छोटे भाई के परांठे पर डाल दिया। वह खुश हो गया। . . . "ऐंऽ . .क्या करते हैं? माँ ने हँसते हुए हाथ उठाया था। पर उस पर उसकी नज़र पड़ते ही उनका हाथ नीचे झुक गया था। फिर उस औरत ने उसकी ओर देखा ही नहीं।

ट्रेन शोर मचाती भागी जा रही थी। सारे लोग अपने आप में मशगूल थे। संभवतः वही एक ऐसा था, जो चुपचाप खड़ा सबकुछ देख रहा था।

ट्रेन की गति अब धीरे-धीरे घटने लगी थी शायद कोई स्टेशन आ रहा था। गाड़ी वहाँ थोड़ी देर के लिए ठहरी थी। वह अपने में खोया रहा। गाड़ी कब चल पड़ी, कब वह बूढ़ा आकर उसकी बगल में खड़ा हो गया, उसे इसका आभास ही नहीं हुआ।

"कौन स्टेशन था बाबू?"

"जी . . . ?" अचानक हुए इस सवाल से अकचका गया था वह। उसने स्टेशन का नाम याद करने की कोशिश की पर स्मृति पटल पर कुछ आया हो तब न शब्द बने—"पता नहीं। . . . " फिर वह कहीं खो गया था—"खाना, बच्चा और माँ। . . . क्या यह त्रिकोण उसे, अब कभी नसीब होगा? शायद नहीं। क्योंकि वह लौटकर और लोगों के बीच लज्जित होना नहीं चाहता था. . . मैं. . . मैं . . . उन्हें दिखा दूँगा कि अकेला आदमी भी कुछ कर सकता है। चार दीवारी के बीच मन कैसा-कैसा हो जाता था। अनुशासन की भी तो कोई सीमा होती है। ऐसा नहीं कि लड़का उसे अंकुश मान बैठे। . . . "

"कहाँ जा रहे हो बेटे?" अचानक उसके सोचने का क्रम भंग हुआ। बगल में खड़ा बूढ़ा उसका कंधा थपथपाते हुए कुछ पूछ रहा था।

"जी . . . इ . . . ? कलकत्ता। कलकत्ता।" जवाब सुनकर बूढ़े ने एक बार घूरकर उसकी ओर देखा था।

"बहुत देर से खड़े हो, आओ बैठ जाओ।" बूढ़े ने पीछे की ओर मुड़ते हुए कहा और जाकर अपनी सीट पर बैठ गया। एकाएक वह कुछ समझ नहीं पाया और स्तंभित-सा खड़ा कुछ देर सोचता रहा, फिर कुछ सोचते हुए जाकर बूढ़े की बगल में बैठ गया। दुःखे हुए पैर को थोड़ी राहत मिली। कुछ देर वैसा ही सम्मोहित-सा वह बैठा रहा—अपने लिए? . . . नहीं अपने मन के लिए। टूटती हुई आशाओं को एक सार्थक दिशा देने के लिए। मानों जीवन की अतल गहराइयों में डूबता हुआ आदमी कोई किनारा ढूंढ रहा हो।

"बुरा नहीं मानोगे तो एक बात पूछूँ? . . . " बूढ़े ने उसकी ओर देखा—" कहाँ से आ रहे हो?"

"जी . . . " अभी वह कुछ कहने ही जा रहा था कि तभी दूसरी ओर से भड़भड़ाती हुई एक ट्रेन पास करने लगी। वह चुप हो गया। टूटन और निराशा के बीच डूबता-उतराता हुआ उसका मन कहीं जुड़ने लगा

था। उस बूढ़े की थोड़ी-सी आत्मीयता से मन संवेदित हो उठा। बोला, "जी. ई. इ . . गिरिडीह से। गिरिडीह से आ रहा हूँ।"

"बस, ऐसे ही?"

सहसा वह कुछ समझ नहीं पाया। कुछ देर जड़-सा बैठा रहा—'क्या जवाब दूँ? यह कोई बताने वाली बात तो नहीं है कि घर से भाग कर जा रहा हूँ। तो फिर क्या जवाब दूँ? . . . पता नहीं किस तरह का आदमी है? लेकिन इससे क्या, कोई भी हो। . . .' "नहीं! . . . वैसे ही जा रहा हूँ . . . "

"अगर तुम बुरा नहीं मानों तो मैं फिर एक बात कहूँ?" कहते-कहते बूढ़े ने अपने माथे को पीठाधार पर टिकाकर एक लंबी सांस ली। अंशु ने कुछ जवाब न पाकर उसकी ओर देखा था—बूढ़े की अनझिप आँखें एकटक छत को निहार रही थीं . . .और वह? उसकी आँखें तो एक छत को छोड़कर, दूसरे छत की तलाश में भटक रही थी।

"नाम क्या है, तुम्हारा?"

"अंशु, जी अंशु!" वह चुप हो गया था।

"देखों अंशु मैं भी कभी तुम्हारी तरह ही था। ऐसे ही घर से चला आया था। सोचा था अकेले जीवन की ऊँचाइयों को छूता हुआ संतोषजनक ज़िंदगी गुज़ार लूँगा। पर जानते हो, आज मैं क्या हूँ? एक मामूली क्लर्क! वह भी जिन मुसीबतों, कठिनाइयों में गिड़गिड़ाकर इसे मैंने प्राप्त किया है, वह मैं ही जानता हूँ। कई दिन भूखा रहा था। होटलों में बर्तन माँजता था . . . आखिर क्यों? क्या इसी आकांक्षा के लिए?" कुछ देर के लिए ठहरा था, वह आदमी—"तुम जो करने जा रहे हो, वह ठीक है, लेकिन आखिर तुम करना क्या चाहते हो? यही न कि घर की चार-दीवारी को तोड़कर जीवन को खुद जीना चाहते हो? . . . खुद!! . . . ठीक ही है! . . . लेकिन यह मत भूलों कि घुटन, संत्रास और बेतुकेपन से भरे संसार में भी हरेक के जीवन का कुछ-न-कुछ प्रयोजन है। . . ."

वह चुपचाप उनकी बातें सुनता जा रहा था। चौंका ज़रूर था, पर बुजुर्ग की बातों में कुछ आकर्षण था, जो उसे उसकी बात सुनने के लिए विवश कर रहा था।

वह कहता जा रहा था—"तुम कुछ करना चाहते हो। है न? इसीलिए न जा रहे हो? घर के परिवेश को तुम पचा नहीं पाते हो। ऊब जाते हो। लोग तुम्हें बराबर ताना देते होंगे, पड़ोस के किसी लड़के से तुलना करते होंगे। . . . है, न? जानते हो क्यो? क्योंकि हर कोई मन की अतल गहराइयों में छिपे हुए उन तंतुओं पर प्रहार करना चाहता है, जिससे वह बचना चाहता है। इसमें उन सबका भी कोई कसूर नहीं है। कसूर है, परिवेश का। दरअसल इस युग में सब ऐसे ही परेशान हैं।" बुजुर्ग के बोलने का क्रम जारी था—". . . जो काम तुम बाहर रहकर, भयानक मुसीबतें उठाकर करना चाहते हो, उसे अपने घर पर ही क्यों नहीं अजमाते? समझ लो वह घर तुम्हारा नहीं है . . . कलकत्ते के ही किसी मध्यमवर्गीय परिवार में तुम नौकर हो! . . . वह तुम्हें पढ़ने-लिखने की सारी सुविधाएँ दे रहा है और बदले में ले रहा है, तुम्हारी थोड़ी-सी सेवा। कभी-कभी डाँटता-फटकारता भी है . . . "

उस बुजुर्ग की बातों ने उसके मस्तिष्क को मथकर रख दिया था। लगा जीवन का एक नया स्वरूप उभरकर उसके सामने आ रहा है।

"तम्हारे यहाँ तो कोई नौकर नहीं होगा?" सहसा बुजुर्ग ने एक अद्भुत सवाल कर दिया था।

"नहीं तो!" अब मन कुछ हल्का हो चुका था।

"अक्सर यही होता है।" ट्रेन भागती जा रही थी, साथ ही उसकी आवाज़ें—"देखो अंशु बाहर रहकर तुम्हें

कुछ नहीं मिलेगा! मिलेगा तो केवल घुटन, संत्रास और ढेर सारी कुढ़न . . . जिससे बचकर तुम भाग रहे हो। बाहर की दुनिया तुम्हें इस प्रकार रहने नहीं देगी। जितना सुरक्षा-कवच तुम्हारे पापा ने बनाया था, वह अब तुम्हें खुद बनाना होगा! . . . " कुछ देर के लिए ठहरा था, वह—"मैं तो यही कहूँगा—अगले स्टेशन पर तुम उतर जाओ. . . अपने घर की वापसी के लिए तुम्हें किसी अवलंबन की आवश्यकता नहीं है . . . उपहास को भी कड़वी घूँट समझ के पी जाना . . . पच जाएगा! . . . और जितनी मुसीबतें तुम बाहर रहकर उठाना चाहते हो, उसका अल्पांश ही घर में उठाकर देखो न! तुम्हारो आक्रोश, घुटन, पीड़ा कितना छोटा हो जाता है। कितना छोटा . . . "

वह चुपचाप सारी बातें सुनता जा रहा था। घुटन और संत्रास के बीच उत्पीड़ित आदमी एक हल्की-सी रोशनी पाकर कितना प्रफुल्लित हो जाता है, उसे अब महसूस हो रहा था। अगले स्टेशन पर अंशु ट्रेन से उतरकर खड़ा हो गया।

ट्रेन वहाँ कुछ देर ठहरती थी। इस बीच उसके मन में कई प्रकार के विचार आये और गये। कभी-कभी उसे महसूस होता था कि—"आखिर वे कौन-सी स्थितियाँ हैं, जिसके कारण व्यक्ति यह सब भोगने के लिए विवश हैं?"—"और घर की वापसी?" एकाएक तन और मन के अंतर्द्वन्द्व के बीच उसके बढ़ते पाँव ठिठक गये—"वापसी? नहीं! . . . वापस लौटना तो एक पराजय होगी और इस पराजय-बोध की पीड़ा से मैं ग्रसित नहीं होना चाहता!" टूटते हुए मन की इस पीड़ा ने तो एक बार उसे झकझोर कर रख दिया, किंतु दूसरे ही पल उसने झटके के साथ मन को संतुलित किया—"नहीं! इस पराजय-बोध से मुझे बचना होगा . . . बचना ही-होगा . . . " और उसके ठिठकते पाँव पुनः सामने खड़ी ट्रेन की ओर बढ़ गये।

[126-ई, ब्रह्मपुत्र, पूर्वांचल, जे. एन. यू., नई दिल्ली-110067]

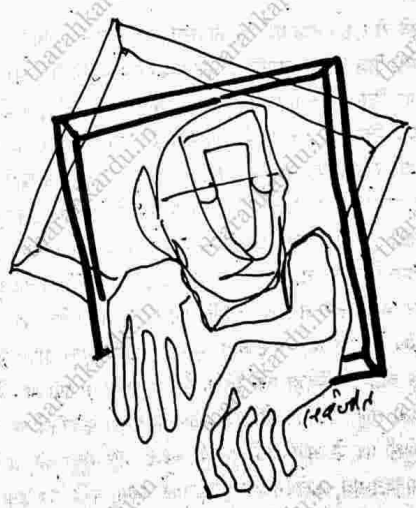

दीवारें

❑ गौतम सान्याल

इस बार यह कस्बा मुझे दूसरी तरह लगा, हालांकि बस अड्डा, बस अड्डे की तरह था और रिक्शा, रिक्शे की तरह। लोग और मकान तब भी शायद इसी तरह और यहीं थे। तब मैं कस्बे से ही लौट गया था। लेकिन इस बार जब रिक्शेवाले ने कहा कि रिक्शा इसके आगे नहीं जाता और मैं अगर रिक्शे से ही जाना चाहूँ तो तकरीबन पाँच किलोमीटर घूमकर पहाड़ी के पीछे से वहाँ जाना पड़ेगा, मैं रिक्शे से उतर गया और मैंने देखा—यह सुबह, दूसरी सुबह थी। मटियाले कुहासे में प्रत्येक चढ़ाई-उतराई पर परत-दर-परत और भी रहस्यमयी बनती हुई। पगडंडी इतिहास की तरह यहाँ-वहाँ से बलखाई हुई थी। काली और उदास चट्टानों के बीच बेतरतीब बिखरे हुए पौराणिक गाथाओं की तरह ये मूक पेड़ मुझसे कुछ कहने को थे। सीने में एक आकाशी सहानुभूति संजोये मैंने कानों पर मफलर कसकर लपेटा और अपने लक्ष्य की ओर देखा—छितरायी पहाड़ियों में धंसा, ऊल-जलूल बिखरा हुआ और धुंध में डूबा हुआ महल नुमा दड़बा। मैं झोले से बिस्कुट निकालकर कुतरने लगा, क्या पता कब खाना नसीब हो।

तब मैं इस कस्बे से एक हताश पर्यटक की तरह लौट गया था, अपने एक अध्यापक मित्र के लिए एक लड़की को देखकर। मेरा मित्र काना, कम्युनिस्ट और भयंकर दहेज-विरोधी था। तब गर्दन को तनिक दायीं ओर मोड़कर वह लड़की पर फिसलने लगा था। लड़की की आँखें, नाक, होंठ, कंधों तक तो उसने खुद को किसी तरह हताश होने से बचा लिया, लेकिन वक्ष के ट्रेफिक आईलैंड पर रुककर वह एकदम से झुंझला गया था—वह खीर नहीं खायेगा। बाहर आकर वह मुझ पर बरसने लगा था कि खीर से खट्टी गंध आ रही थी, कि मैंने क्यों खाई, कि अभी सड़क किनारे मैं बैठने लगूँ तो वह पानी कहाँ से लायेगा। उसने बाद में नार्थ बेंगल यूनिवर्सिटी ज्वायनकर ली और वहीं एक प्राणिशास्त्र की अध्यापिका से शादी कर ली। मैं उसकी शादी में सिलिगुड़ी गया था। उसकी पत्नी के हाथ-पैर ठीक थे, लेकिन वक्ष जैसे थे ही नहीं। लेकिन वह यूनिवर्सिटी की अध्यापिका थी।

स्कूल के गेट पर कोई संतरी नहीं था, क्योंकि गेट था ही नहीं। डेढ़ खंभों के बीच के प्रावधान ने मुझसे कहा कि यहाँ से जाइये। मैं स्कूल की तरफ बढ़ा। मुझे अचानक ख्याल आया कि जिससे मैंने—ऑफिस किस तरफ है, पूछा था—वह बड़ा-सा केंकड़ा नहीं बल्कि मेरी ही तरह आदमी था। मैंने सोचा कि इस पर बाद में सोचूँगा, कि अभी देखता चलूँ, जैसा कि मैं अपनी अनेक अधूरी कहानियों के साथ करता आया था।

हेडमिस्ट्रेस की कुर्सी पर दो आँखें बैठीं हुई थी; स्वच्छ और सुदूर की, यशोदा की तरह। सामने टेबिल, टेबिल पर मेरा दीर्घ आवेदन-पत्र, आवेदन पत्र पर उनका चश्मा, ताकि यह हवा के झोंकों से उड़ न जाये। दो

आँखों से दो हाथ निकले और ब्रश की तरह मेरे चेहरे पर फिसलने लगे—मैं माँ हूँ, माँ और देखो तो, कब से सीने पर ये विशाल बरगद उठाये बैठी हूँ तुम्हारे लिये।

"तो तुम यहाँ रहना चाहते हो . . . ?"

"हाँ, मदर टेरेसा ने मुझे गहरे प्रभावित किया है. . . ."

"टेरेसा किसी को प्रभावित नहीं करती, वह तो बस प्रभावित होती है बहुत गहरे . . . खैर छोड़ो—दो आँखें आवेदन-पत्र पर टिकीं—"तुमने लिखा है कि तुम यहाँ दो महीने रहकर कुछ लिखना चाहते हो . . . बाद में हो सकता है कि सदा के लिये . . . लेकिन एक शिक्षक की तरह? छीः।"

"क्यों? —" मैंने थोड़ा आहत स्वर में कहा—"मैंने यह भी तो लिखा है कि आजीवन अवैतनिक शिक्षक की हैसियत से . . . "

"हम पारिश्रमिक देते हैं!" दो आँखों ने हाथ उठाकर कहा, "ये और बात है कि पैसों में नहीं . . . तुम जब तक रहना चाहो रहो . . . लेकिन एक शिक्षक की तरह . . . " दो आँखें हंस पड़ीं, "तुमने कभी विकलांग बच्चे को भीख दी है?"

"हां, कई बार।"

"देते हुए कैसा लगा तुम्हें?"

"मुझे लगा कि मैं दुनिया का सबसे खूबसूरत गुनाह कर रहा हूँ. . . .मेरी प्रफुल्ल आत्मा के चारों ओर अपराध-बोध का भीगा संस्पर्श. . . ."

"शब्दों से न खेलो मेरे बच्चे, शब्दों से न खेलो।" दो आँखें चाबुक की तरह लहराईं, "विकलांगों के स्कूल में शब्दों से खेलना शायद सबसे बड़ा अपराध है और इसे तुम नहीं जानते . . . . खैर, तुम क्या पढ़ाते हो?"

"हिन्दी साहित्य . . . .आधुनिक कवितायें . . . मैंने मुक्तिबोध पर पी-एच. डी. की है. . . "

"ओह! तब तो तुम विकलांगों के बारे में थोड़ा-बहुत जानते हो. . . . और क्या करते रहे?"

"मैंने कहानियाँ लिखीं। ढेर-ढेर शोषितों-वंचितों के बीच रहकर मैंने जीवन को जैसा देखा-भोगा, लिखा . . .विकलांगों पर मेरी एक कहानी सरकार द्वारा पुरस्कृत हुई. . . .कहानी काफी चर्चित रही. . . "

"ऐसा? अब मैं तुम्हें थोड़ा-थोड़ा समझने लगी हूँ . . . और?"

"मेरे पिता के जूतों की बड़ी दूकान थी। लगभग पाँच लाख की संपत्ति पर लात मारकर मैं घर से निकल आया था . . . "

"लात ठीक से नहीं लगी थी . . . और?"

"यही कि मैं अकेला हूँ बेहद अकेला।"

"तभी तो . . . और?"

"मैं यहाँ दो महीने रहकर विकलांगों . . . मेरा मतलब है इन पर बड़ा-सा कुछ लिखना चाहता हूँ . . . एक लम्बी कहानी, उपन्यास का . . . हो सकता है एक उपन्यास . . . "

"और?"

मैं चुप हो गया। मेरे पास बताने को 'कुछ और' नहीं था। दो आँखें मेज पर झुक आईं, "एक शिक्षक की तरह. . . छीः।" अचानक ब्लाउज के बटन खोलकर दो आँखें फट चलीं, "देख मेरे बच्चे देख, तेरी बातें सुनकर मेरे स्तन कैसे भीग गये हैं . . . . यहाँ मुँह लगाकर छुप जा मेरे बच्चे, बाहर भुतुआ है। तुझे पकड़कर हडिये में बंद कर देगा . . . तेरे हाथ-पाँव टेढ़े-मेढ़े हो जायँगे . . . चल आजा . . . .आजा!"

"मैं बच्चा नहीं हूँ . . . " मैंने दूसरी तरफ नज़र करके तनिक कठोर लहजे में कहा, "आप अपने वक्ष

ढंकिये और हो सके तो मेरे आवेदन पत्र का उत्तर दीजिये . . . ”

एक युग हताशा लिये दो आँखों ने ब्लाउज के बटन बंद करते हुए कहा, “तुम ठीक जानते हो कि तुम शिशु नहीं हो? . . खैर, आवेदन-पत्र का उत्तर मैं बाद में दूँगी . . . पहले बाहर जाकर थोड़ा घूम-फिर लो. . . . जल्दी आना. . . . मैं यहीं बैठी हूँ . . . ”

मैं झटके से बाहर निकल आया और मैंने राहत की सांस ली। मुझे लगा कि जैसे मैं अभी तक किसी डायन के क्रिस्टल-बॉल के सामने बैठा था।

बाहर बारामदे में आदमी-से दस-बारह रेंगते-घिसटते-फिसलते दिखे। उनमें से दो एक बर्तन में साबुन के घोल में किसी चाबीनुमा चीज़ को बोर-बोरकर बुलबुले बना रहे थे और घोड़ों की तरह हिनहिना रहे थे। मुझे याद आया कि ऐसा मैं भी करता रहा हूँ। कब? प्रायः अंधकार, क्लासरूप में खोखले शब्दों की फ्रिस्बी क्रम वार फेंकते हुए? —बुलबुले बनते और फटते जा रहे थे।

बारामदे के कोने में एक पाइथागोरस का आड़ातिरछा-उलझा हुआ थियोरम हेलमेट पहने हुए बैठा था। उसके सामने टाइपराईटर जैसी कोई चीज़ रखी हुई थी। उसमें अक्षरों की जगह गड्ढ़े बने हुए थे। हेलमेट से स्प्रिंगनुमा कोई नली लपलपा रही थी। वह प्राणपन सर हिला रहा था और नली से अक्षरों के गड्ढ़ों को गोद रहा था। उसका चेहरा देखते हुए मैं चिहुँक उठा। उसका चेहरा आज के एक प्रतिष्ठित मार्क्सवादी समालोचक से बिल्कुल मिलता-जुलता था।

किसने पुकारा मुझे? ओह ये। . . . .मैं उसके पास गया। तब तक जीवन की कई छिन्न-भिन्न आकृतियाँ मेरे इर्द गिर्द से तड़पकर मुझसे चिपक गईं। मैं चींखों—सीत्कारों—आर्त्तनादों से घिर गया। मरीयम-सी दिखती उस सेविका ने बताया कि वे “वी शैल ओवर कम सम डे” का अभ्यास कर रहे हैं जिसे वे आगामी लेनिन-दिवस पर गायेंगे। कोई ढोल, कोई बर्तन, कोई अपना सीना ढुलमुल पीट रहा था तो किसी के मुँह से लार टपकती थी तो कोई ज़मीन पर लोट-पोट हुए जा रहा था। मैंने ध्यान से सुनने की कोशिश की लेकिन अधिकांश मेरी समझ में नहीं आया। फिर भी यह जानकर कि वे गा रहे थे, मेरा सीना गर्व और संतोष से भर आया। गीत की लय तेज होते ही सभी ने हाथ-पैर झटकना शुरू कर दिये। अचानक वे चुप हो गये। किसी का बायां हाथ छिटकर दायरे के बीच आ गिरा था। अब वे दहशत में उस कटे हुए हाथ को देख रहे थे। जिन्नाती हवाओं सी गों-गों ध्वनि वातावरण में धीरे-धीरे उपजने लगी। मैंने बढ़कर हाथ को उठाया। हाथ गर्म था।

बिल्डिंग के दूसरी तरफ दूसरा ही नज़ारा था। दो मीटर व्यास के एक प्लास्टीक के विशाल ग्लोबनुमा बॉल पर दो अधूरे इंसान आमने-सामने पट् लेटे हुए थे। अपने दोनों हाथों को फैलाये, ग्लोब से चिपके, निर्वाक् और हतोत्साहित। एक निस्तेज चेहरे वाली सेविका किसी बर्छीनुमा स्टिक से उस ग्लोब को कोंच रही थी और वे दोनों ग्लोब के साथ धीरे-धीरे हिल रहे थे। उस सेविका ने मुझे बताया कि वे दोनों अपना मेरुदंड सीधा कर रहे हैं। अचानक जैसे किसी ने मुझे ठेल दिया। मैं दो-तीन कदम पीछे हट आया। आणविक विध्वंस की स्पर्द्धा को सीमित करने के लिए अक्सर प्रेसिडेंट बुश और गोर्वाचोव की शिखर वार्तायें इसी मुद्रा में होती है न?

फिर मैं क्या बताऊँ कि मैं कहाँ-कहाँ गया, कहाँ-कहाँ से छिन्न-भिन्न हुआ। कहाँ-कहाँ चिहुंककर गिरा कहाँ-कहाँ पर टपकता रहा। मैंने त्वचा से देखा, आँखों से छुआ, कानों से गुना, आहटों से परखा। एक बाढ़-त्रस्त सांप की तरह मैं तट छूने को बेचैन इधर-उधर भागता रहा। मैंने तब जाना कि मैं कितनी दूर तक नहीं जानता कि जब लाल रिबन बाँधे वह बड़ी-सी लड़की लत्तर-बत्तर करती हुई मुझसे आ लिपटी कि सेविका ने बताया—“यह बहुत अच्छा गाती है।” अपनी बेनूर आँखों को मेरे चेहरे पर रखते हुए उसने स्पष्ट उच्चारण में कहा, “लेकिन मेरे सुरों में प्रकाश नहीं है . . . तुमने फूल देखा है फूल . . . कैसा होता है फूल?”

तेज धूप निकल आई थी। मैं चीखा—"मुझे प्यास लगी है. . . पानी?" सेविकायें दौड़ती हुई आईं और सभी ने हाथ उठाकर कहा—"वहाँ जाओ, वहाँ।" मैंने देखा, बारामदे पर दो आँखें निकल आईं थीं।

"क्या हुआ?"

"आओ मेरे बच्चे"

"नन्न् . . . . मुझे दूध नहीं, पानी चाहिये।"

"लो!" दो आँखों ने उड़ेलना शुरू किया। हाथों का दोना बनाकर आकंठ जल पीते-पीते उसकी ओर देखते ही मैं अवाक् रह गया—आँखों की भी जीभ होती है, गाभिन की तरह?

"मैं जा रहा हूँ।" आस्तीन से मुँह पोंछकर मैंने दूसरी तरफ देखते हुए कहा। फिर मैं अपने पैरों को देखने लगा, जहाँ से एक आत्मविश्वास भरी मुस्कान मुझे जबरन उठानी थी।

"जाओ, अपना ख्याल रखना . . . और सुनो, गले को ठीक से ढंक लो, तुम्हें बहुत जल्द ठंड लग जाती है. . . " मेरे सर पर हाथ रखकर दो आँखों ने कहा।

"मैं बाहर जाकर . . . . "

"तुम फिर ग़लती कर रहे हो मेरे बच्चे, तुम बाहर नहीं जाओगे बल्कि तुम बाहर आये थे . . . . खैर, इस बार जाते हुए स्कूल की बाउंड्री को गौर से देखना. . . .अच्छा सुनो, तुम्हारी माँ नहीं है न?"

"मर गई है। खूब बचपन में. . . "

"तभी तो।" गहरे दुःख में दो आँखें पलटकर पथरा गईं।

मैंने बाहर निकलकर स्कूल की गेट और बाउंड्री को गौर से देखा। दीवारें इतनी छिन्न-भिन्न, इतनी टूटी-फूटी थीं कि इसके होने का कोई मतलब ही नहीं था।

—बंगला से कहानीकार द्वारा अनूदित

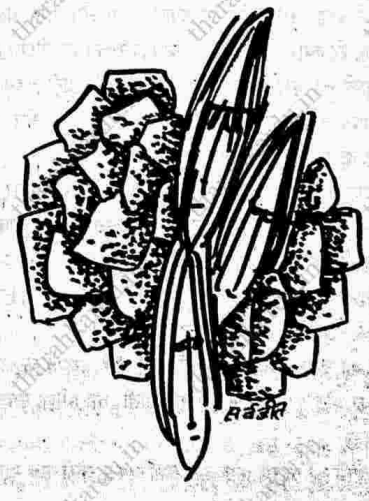

खुशी

❑ उत्कुर खाशीमोव

[लेखक : ताशकन्द में 1941 में जन्म। उज़बेकिस्तान के महत्वपूर्ण लेखक। लेनिन कॉम्सोमोल पुरस्कार विजेता। ताशकन्द विश्वविद्यालय से भाषा-विज्ञान के स्नातक। सन् 1960 से कहानियाँ, निबन्ध आदि प्रकाशित। अब तक दस से अधिक कहानी संग्रह, वृंतात आदि प्रकाशित। कुछ नाटक भी प्रकाशित।]

उस समय नव-वर्ष संध्या के नौ बजे थे। आने वाले वर्ष में मुनीरा तीस वर्ष की हो जाएगी। नये वर्ष के आगमन पर वह एक बार फिर अकेली थी। नन्हीं नीलोफर दूसरे कमरे में सोई हुई थी। वह नन्हीं, प्यारी बच्ची मुनीरा को बहुत चाहती थी, अपनी माँ सायरा से भी अधिक। प्रत्येक शाम जब मुनीरा अपने काम से लौटती, नीलोफर प्रसन्नता से दौड़कर उसे अपनी बाहों में भर लेती।

सायरा ने आज रात मुनीरा के साथ रहने का वायदा किया था, लेकिन वह वायदा भी पहले की तरह पूरा न हुआ। उसकी बेटी हालांकि पाँच वर्ष की हो चुकी है, लेकिन लगता है कि सायरा अभी सयानी नहीं हुई है। वह बाल-बाड़ी से नीलोफर को लाई, उसे मुनीरा के हवाले किया और स्वयं चलती बनी।

"क्यों, तुम बाहर आ रही हो क्या?" मुनीरा ने हताश होकर लगभग चीखते हुए कहा। सायरा वापस आई, अपनी बड़ी बहन के दोनों गालों को चूमा, और कहा, "मेरी अच्छी छोटी बहना" और यह जा वह जा. . ।

मुनीरा एक बार फिर अपने तक ही सीमित होकर रह गई थी, उदास और अकेली। समय काटने के लिए उसने सोचा कि पलाव बनाने के लिए चावल धोए जाएँ।

उसे वह समय याद आया जब वह छः या सात वर्ष की थी। उसका और सायरा दोनों का कुकरखांसी से बुरा हाल था। उनकी माँ ने उनको वह पानी पिलाना चाहा जिससे चावल धोए थे। ऐसा माना जाता था कि उससे खांसी में आराम मिलता है। वह पानी झाग वाला और बेस्वाद था। मुनीरा ने उसके कुछ घूंट तो पी भी लिए थे, लेकिन सायरा ने तो वह सारा का सारा अपने कपड़ों पर गिरा लिया था। उनकी माँ ने चीखना-चिल्लाना शुरू कर दिया, "तुम लोगों के बड़ा होते-होते तो मैं मर जाऊँगी।"

किसी कारण उनकी माँ का चेहरा हमेशा उदास दीखता, चाहे वराण्डे के कोने में वह उनके लिए वर्दी सी रही होती, या फिर चाहे घर का कोई दूसरा काम कर रही होती। वह हमेशा ख्यालों में खोई रहती और उनका सिर एक तरफ, झुका रहता।

मुनीरा अपनी माँ की उदासी का कारण कुछ-कुछ तभी समझ सकी जब वह बड़ी हो गई और स्कूल जाने

लगी। उसे अपने पिता की धुंधली-सी याद थी : लम्बा मूंछों वाला, जिससे प्यार करने की फुर्सत उसे नहीं थी। सायरा के पैदा होने के तुरन्त बाद ही रहस्यमय ढंग से गायब हो गया। वर्षों बाद उसने जाना कि वह उनके परिवार को छोड़ चुका है। बहुत छोटी उम्र में ही वह जान गई कि उसकी माँ को उसकी मदद की ज़रूरत है। वह अभी तेरह की ही थी तो उसने सीना-पिरोना सीख लिया था, और स्कूल की आठ वर्ष की अनिवार्य पढ़ाई के बाद उसने अलाई-बाज़ार के निकट एक कपड़े बनाने वाले कारखाने में काम करना शुरू कर दिया था।

पलाव बनाने के बड़े बर्तन-कजान-में पानी उबलने को आया तो मुनीरा ने चावल डाल दिए, उसके विचारों का तांता टूट गया। उसने छोटी खिड़की खोल दी। शीतल, स्वच्छ हवा ने रसोई में प्रवेश किया। बाहर बर्फ़ से लदी पेड़ों की टहनियाँ झुक गई थीं। और जैसे यह काफी न हो, झुके आसमान से अधिकाधिक सफेद चाँदी जैसे पंख नीचे तैरते हुए आ रहे थे। ऐसे, गोया किसी उल्लू ने अपने पर फैला रखे हों। सामने के चार मंजिला मकान से एक खुशी भरा गीत सुनाई दे रहा था। हर कोई नए वर्ष को आता हुआ देख रहा था. . . . । मुनीरा ने कजान पर ढक्कन रखा और एक ठण्डी सांस ली। वह पंजों के बल बैडरूम में गई। नीलोफर गहरी नींद में थी। उसके बाल सिरहाने पर बिखरे पड़े थे और उसका माथा कुछ भीगा हुआ था। मुनीरा बिस्तर के कोने पर बैठ गई। नन्हीं लड़की के माथे का पसीना अपने हाथ से पोंछा और मुस्कराई, "शरारती कहीं की, दिन भर पड़ोस के बच्चों के साथ इधर-उधर दौड़ती रहती है, अपने आप को खूब थका लिया है।" मुनीरा को याद आया कि उसे तो अभी क्रिस्मस-पेड़ पर बत्तियाँ लगानी हैं और वह जल्दी से उठ गई।

इससे पहले दिन में जब वह पेड़ को सजा रहे थे, नीलोफर बराबर यह फरमाइश करती रही कि बत्तियाँ जगा दो। मुनीरा ने उसे विश्वास दिला रखा था कि यह काम तो फादर फ्रॉस्ट ही करेंगे, जब नया वर्ष आएगा।

मुनीरा बैठक वाले कमरे में गई और बिजली के तार लगा दिए। नन्हें रंग-बिरंगे बल्ब—लाल, हरे, पीले और कुमुदिनी, जगमगा उठे। कमरे में उत्सव जैसा वातावरण भर गया। मुनीरा आश्चर्यचकित निश्चल खड़ी रही।

खिड़की से बाहर संगीत तैर रहा था, आते-जाते लोग जीवंत बातें कर रहे थे। लेकिन यह सब उसके कमरे की खामोशी और अकेलापन और अधिक गहरा रहा था। ऐसे लग रहा था जैसे एक शीशे की दीवार ने उसे तमाम दुनिया से काट रखा है।

यह लगातार छठा वर्ष था जब मुनीरा नव वर्ष संध्या पर अकेली थी। लेकिन यह कुछ भिन्न भी हो सकता था। वह भी अपने पति, बच्चों और दूसरे लोगों से भरे कमरे में हो सकती थी।. . . जीवन कितना निष्ठुर है। . . . सपने हमेशा सच थोड़े ही होते हैं।

जाकिरजान एक अच्छा लड़का था। लम्बा, सुन्दर और समभाव। उनका परिचय एक मिनी बस में हुआ जिसे जाकिरजान चलाता था और जिसे मुनीरा हर शाम घर वापस आने के लिए पकड़ती थी। लगता था जाकिरजान उस पर बुरी तरह फिदा है। वह उसके कारखाने के बाहर बस खड़ी करके उसका इन्तज़ार करता। मुनीरा अपनी नाराज़गी तो व्यक्त करती लेकिन बस देखकर उसके अन्दर एक उत्तेजनापूर्ण लालगी का संचार होता। अब उसे महसूस होता है कि वे दिन जीवन के सबसे सुखी दिन थे। क्या इससे बढ़कर कोई और खुशी हो सकती है। जब आपको यह पता चले कि कोई आपका कितना ख्याल रखता है? हाँ, वह बहुत खुश थी, लेकिन साधारणतया खुशी और गम साथ-साथ ही तो चलते हैं। उसकी अम्मी की मौत अचानक ही हो गई। उन्हें दिल का दौरा पड़ा था, और जब तक ऐम्बूलेंस आती, सब कुछ समाप्त हो चुका था। मरते समय उनके अंतिम शब्द थे, "मुनीरा, अपनी बहन का ख्याल रखना। तुम्हारे अब्बा तो नहीं थे, अब अम्मी भी न होगी। तुम्ही मेरी उम्मीद हो।"

मुनीरा ने अपनी अम्मी को यह वचन दिया कि वह सायरा का पूरा ध्यान रखेगी। किसी नाले के सूख जाने

से नदी थोड़े ही सूख जाती है। जीवन चलता रहा। एक महीना बीता, फिर एक वर्ष। एक दिन जाकिरजान ने मुनीरा से कहा—"हमें अब जल्द ही शादी कर लेनी चाहिए। मेरे घर वाले हर वक्त मुझे इसके लिए तंग करते रहते हैं।"

मुनीरा को क्या करना चाहिए? एक सोलह साल की लड़की को वह अकेला तो नहीं छोड़ सकती। उसका क्या होगा?

"मेरी छोटी बहन अकेली नहीं रह सकती", उसने ज़ाकिरजान से कहा। "मैंने अपनी अम्मी से वायदा किया है कि मैं उसकी देखभाल करूंगी।"

एक और महीना बीत गया, फिर एक साल भी। उसमें और जाकिरजान में अब भी प्यार था, परन्तु कुछ था जो उसे चिंतित किए हुए था। उसे विनाश का आभास हो रहा था।

इस बीच सायरा ने स्कूल की पढ़ाई समाप्त की। जाकिरजान ने अपना प्रस्ताव फिर दोहराया। मुनीरा ने अपना उत्तर पुनः दोहराया, "मेरी बहन पॉलीटेक्निक में जाना चाहती है। पहले उसे इम्तहान पास कर लेने दो।"

"फिर?" स्वभाव के विपरीत तनिक सख्ती से जाकिरजान ने पूछा, "फिर क्या होगा?"

"तब . . . ." मुनीरा कहते-कहते चुप हो गई। उसे स्वयं पता नहीं था फिर क्या होगा। परन्तु इतना वह अवश्य जानती थी कि जब तक उसकी बहन अपने पाँव पर दृढ़ता से खड़ी नहीं हो जाती, मुनीरा उसे छोड़कर नहीं जा सकती।

"क्या तुम हम दोनों को अपने घर ले जा सकोगे?" जाकिरजान की आँखों में आँखें डाल कर उसने पूछा।

"नहीं, तुम्हें यह फैसला करना है कि तुम मेरे साथ रहना चाहती हो या अपनी बहन के साथ। लेकिन एक बात याद रखना, तुम्हारी बहन तुम्हारे लिए कुछ भी नहीं करेगी।"

"मैं क्या करूँ?" मुनीरा ने दृष्टि झुकाते हुए कहा। "मेरे पास दूसरा रास्ता नहीं हैं।"

"मेरे पास भी दूसरा कोई रास्ता नहीं है। मैं तुम्हारे घर में तुम दोनों के साथ नहीं रह सकता। मैं तीस को पार कर चुका हूँ। शादी न करने पर मेरे घर वालों ने मेरी नाक में दम कर रखा है।"

मुनीरा ने आँख उठा कर उसे देखा और कहा, "मैंने तुम्हें बांध नहीं रखा है। तुम जो चाहो सो करो।"

उसके बाद सब कुछ समाप्त हो गया था। रात को वह कम्बल के नीचे छिपकर रोती थी, ताकि उसकी बहन कुछ जान न ले। जब दूर उसे जाकिरजान दिखाई दिया, तो उसका दिल पागलों की तहर धड़कने लगा। जाकिरजान के शादी कर लेने पर तो उसे लगा जैसे वह पागल ही हो जाएगी। लेकिन एक इन्सान में गज़ब की सहन शक्ति होती है। उसने भी अपने दुखों को सह लिया। जाकिरजान का कोई दोष नहीं।

सायरा को जैसे-तैसे प्रवेश मिल ही गया और जल्दी ही जाकिरजान की कही बात भी सच प्रमाणित हो गई। अपनी बहन के लिए किसी त्याग की भावना सायरा में नहीं थी। वसन्त ऋतु में एक दिन उसने मुनीरा को गले लगाया और फूट पड़ी, "प्यारी आपा, मैं शादी करना चाहती हूँ। मेहरबानी करके समझो कुछ।"

मुनीरा समझ गई। अगर सायरा उस तृतीय वर्ष के विद्यार्थी से शादी न करे, जिसका कपास की खेती के दिनों से उससे प्रेम था, तो उसके खो जाने का डर था, जिस प्रकार उसने जाकिरजान को खो दिया था। अतः मुनीरा ने माणिक जड़ित अंगूठी, जो उसने जाकिरजान के साथ खरीदी थी, तथा गलीचे समेत, जिसे उसने अपनी मेहनत की कमाई से खरीदा था, ब्याह का जोड़ा सायरा को दे दिया, जिसकी उसे स्वयं के लिए आवश्यकता नहीं रही थी।

अपनी छोटी बहन को देखकर मुनीरा खुश थी। काश यह सब देखने के लिए माँ ज़िन्दा होती। ब्याह में उसने खूब भाग-दौड़ की। जब मुबारकबाद देते हुए दूल्हा के दोस्त कमरे में घुस आए, तब उसे जाकिरजान

याद आया, और उसकी आँखें भर आईं।

शादी के बाद मुनीरा उदास और अकेली हो गई। उसे लगा जैसे उसके मित्र पीठ पीछे उसका मज़ाक उड़ाते हैं। और जब लोग उससे सद्व्यवहार करते तो उसे लगता वे एक बच्चे की तरह उसका दिल बहला रहे हैं। उसे काम में ही राहत मिलने लगी। वह एक कुशल मज़दूर थी, जिसकी सब इज्जत करते थे। परन्तु उसके मन में अथाह सूनापन था। ऐसा लगता जैसे दिल के गोशे-गोशे में जाकिरजान अपना नाम खोद गया है। वह अब उसके साथ तो नहीं है, परन्तु उसके दिल के जख्म में हर रोज़ पीड़ा की एक कसक सी उठती।

इसे और बढ़ाने के लिए, बेटी के जन्म के बाद सायरा ने अपने पति को तलाक दे दिया। इस बात पर दोनों बहनों में तकरार तक हुआ। सायरा के पास अपने पति के विरुद्ध जैसे शिकायतों के इलावा कुछ और कहने को था ही नहीं, "वह चाहता है कि मैं सर और पाँव के बल खड़ी होकर उसका इन्तज़ार करती रहूँ। वह घर में कुछ नहीं करता है, मेरी कोई मदद नहीं करता है।"

"तुम्हें नहीं पता एक बीवी होने का क्या मतलब होता है?" मुनीरा ने गुस्से से चिल्लाते हुए कहा, "तुम्हें शर्म नहीं आती अपने इस शौहर की नुक्ताचीनी करते हुए जिसने, जब तुम पढ़ने जाती थी, तुम्हारे बच्चे को संभाला। उसकी मदद के बिना क्या तुम कभी पास हो पाती? और अब वह अच्छा नहीं रहा।"

"इससे क्या?" सायरा ने ज़ोर देकर कहा,"आजकल बराबरी का ज़माना है, मर्द और औरत बराबर हैं।"

"तोते की तरह किसने रटवा दी यह बेहूदगी तुम्हें? क्या यही सिखाया है अम्मी ने तुम्हे? अम्मी ग़लत थी।"

मुनीरा अपना आप खो बैठी और अपनी बहन के मुँह पर एक थप्पड़ जड़ दिया, "तो निष्ठा और भक्ति जैसे शब्द भी ग़लत हैं, पुराने हैं, न?"

यह पहला मौका था जब मुनीरा ने अपनी बहन के थप्पड़ मारा था और इससे वह विचलित भी बहुत हो गई थी। उसने तय किया कि वह अब सायरा के निजी जीवन में हस्तक्षेप नहीं करेगी। इसी बीच इसकी भानजी निलोफर उससे बहुत घुलमिल गई थी, उसे 'अम्मी' कहती, और जब वह काम से वापस आती तो दौड़कर उसके गले लग जाती। ऐसे मौके पर मुनीरा एक गहरी साँस लेती, सोचती अगर उसके अपना कोई बच्चा होता तो उसे भी वह ऐसे ही प्यार करती। ऐसे विचार उसे हर नव वर्ष संध्या पर आते। शायद मातृत्व की प्रसन्नता प्राप्त करने की आशा उसे अभी तक है। घड़ी ने दस बजाए। नया वर्ष आने में अभी दो घंटे बाकी हैं।

सोने वाले कमरे से एक आवाज़ आई—नीलोफर जाग गई होगी। दरवाज़ा चुपके से खुला और बालों को बिखराये और आँखें मलते हुए नन्हीं नीलोफर ने कमरे में प्रवेश किया। कोने में खड़े क्रिस्मस पेड़ को देखकर वह चिल्लाई, "ओह, क्या फादर फ्रॉस्ट आए थे?"

"हाँ, वो आए थे।" मुनीरा ने हंसते हुए उत्तर दिया।

"और पेड़ पर टंगे इन बल्बों को जगाया?"

"हाँ-हाँ, तुम खुद देख सकती हो। फादर फ्रॉस्ट आए और इन बल्बों को जगाया ताकि जब नीलोफर जागे तो वह खुश हो।"

मुनीरा ने नीलोफर का हाथ पकड़ा—आओ, मुँह-हाथ धो लें। पलाव तैयार है।

नीलोफर कई कदम बढ़ गई, फिर रुक गई। "और आपको?" अचानक ही उसने पूछा, "क्या फादर फ्रॉस्ट आपके लिए भी कुछ लाए?"

"मेरे लिए?" मुनीरा ने क्षण भर को सोचा, "मेरे लिए लाए वो. . . . खुशियाँ।" नीलोफर ने मुँह फुला लिया।

"आपने मुझे जगाया क्यों नहीं?" मुनीरा ने आश्चर्य से नन्हीं नीलोफर को देखा और फिर बाहों में भर लिया।

"मैं तुम्हें क्यों जगाती?"

"मैं भी उनसे कुछ खुशियाँ मांग लेती।" मुनीरा हंस दी।

"चल, नकचढ़ी शरीर कहीं की, खुशियों का तू क्या करती?"

"मैं आपको दे देती", उसने बड़ी-बड़ी आँखें मटकाते हुए कहा, "तब आपके पास ढेर सारी खुशियाँ हो जातीं।" मुनीरा का दिल धक से रह गया।

नन्हीं बच्ची की आँखें उस विश्वास से भरी हुई थीं जिसे केवल बच्चे ही जानते हैं, और जिसके प्रकाश से मुनीरा का हृदय वह कमरा और सारा विश्व चमक उठा। खिड़की के बाहर संगीत अब भी गूँज रहा था। नया वर्ष दहलीज पर था। ऐसे लगा जैसे वह कह रहा हो कि सब कुछ ठीक-ठाक रहेगा और प्रत्येक को अपने हिस्से की खुशियाँ मिलेंगी। बस, थोड़ा इन्तज़ार भर करने की बात है।

अनुवाद : रवि सिंह राणा

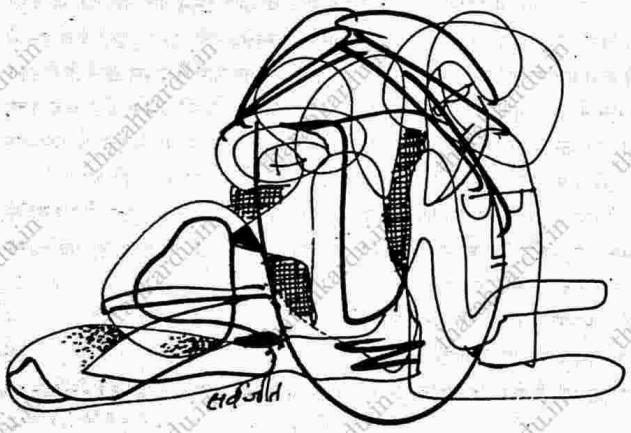

कविता

तीन कविताएँ

❑ सतीश धर

करिश्मा

अभी खोलेगा पिटारी
दिखाएगा जादू
दिन फिरते देर नहीं लगती
रात गुज़रते वक्त
इत्मिनान से बैठिये
मंच पर आएगा जादूगर
करिश्मों के नाम पर
हाथ हिला-हिला कर
समझाएगा प्राचीन मंत्रों की महिमा
हाथ पर आ बैठेगा कबूतर
शांति का दूत
मचाएगा शोर
भागो-भागो
पकड़ो चोर
देश की अस्मिता को ख़तरा
ले भागा जादूगर
पिटारी में बंद
एक और करिश्मा
परेशाँ दर्शक
तलाश रहा एक और जादूगर

सुरक्षा

ऐसा क्यों होता है
जब भी मैं सपने में घर बनाता हूँ
एक दानवाकार मानव
अच्छे पड़ोसी की तरह समझाने लगता है
खिड़कियों पर सलाखें लगाईए
दरवाज़ों पर चिटकनियाँ
घर की सुरक्षा में है
देश की सुरक्षा

एक नज़र आमने-सामने
मैं और दानवाकार मानव
नहीं कर पाते फैसला
किस हाथ से छीनना है खिलौना
किस बाग़ का मसलना फूल

आखिर मसला घर का है
देश का नहीं
घर की सुरक्षा में है
देश की सुरक्षा
विवशताओं के गवाह मेरे दोस्त
कई बार सोचता हूँ
अपनी अय्याशी के लिए
बेच डालूँ
कौड़ियों के भाव
अनमोल उपन्यास
मिट्टी के मोल प्यार
ताकि कुछ 'न रहे मेरी झोली में
और इत्मिनान से मैं कह सकूँ
घर की सुरक्षा से ज़रूरी है
देश की सुरक्षा

सम्बन्ध

इतना भी नहीं
एहसास उन्हें
नदी की गहराई
रिश्तों की गहराइयों के करीब है।
क़तरा-क़तरा ख़ून से बनते रिश्ते
लम्हा-लम्हा प्यार से दर्द
ख़ून और दर्द
नदी के दो किनारे
सम्बन्धों का यह एहसास
कितनों से दूर
कितनों के पास

[सूचना अधिकारी, हिमाचल भवन, 27, सिकंदर रोड, नई दिल्ली-110001]

चार कविताएँ

❑ प्रमोद कौंसवाल

आदमी की शक्ल भी ऐसी है

रात टार्च की रोशनी में
आँखें फैलाता है चीता
उसे नहीं मालूम
हम दाग देंगे बंदूक
उसकी आँखों की चमक को
हम शिकारी
अभी-अभी
फीका कर देंगे
उनका पानी उतार देंगे

रात में
टार्च की रोशनी में
आदमी की आँखें भी
ऐसी ही दिखती हैं
उसकी शक्ल भी ऐसी है
चाहें तो चला सकते हैं बंदूक

जब पेड़ गिरा : एक

हम नहीं थे बैठे वहाँ
गिरा जिस वक्त पेड़
उस घाटी में पेड़ गिरते ही जो

चिल्ला उठते
झुक जाते

पेड़ गिरा जिस वक़्त
ज़मीन भी तो न हिली
बस्ती में शोर न हुआ
अँधेरे में रोशनी न फटी

पेड़ की शाखाओं की तरह
बहुत देर बाद
बेचैनी से जागते हैं कुछ लोग
सामने उस पहाड़ पर
कहते हुए कि देखो
उसकी छाया में नहीं था
पसरा हुआ हमारा आदमी
नहीं थी धँसी हुई हमारी आत्मा
उसकी जड़ों में

जब पेड़ गिरा : दो

कहते रहे हम हमेशा से
जिस वक़्त पेड़ गिरेगा
दबेगी वहाँ
कोई न कोई
यादगार ज़िंदगी
हमारी कोई निजी चीज़

नहीं तो
अस्पताल जाते हुए
गाँव के बीमार लोग
घास के बोझ से दबी
मेरी ताई या चाची
मेरा भाई जो गडरिया है
धूप से बचने के लिए बैठा
गंगोत्री जाता थका-माँदा राहगीर

एक भी न बन सका
पेड़ गिरने की गर्जना का गवाह

माल-रोड पर एक शाम

वे कहते थे एक स्त्री
एक शहर का चेहरा
बहुत कुछ एक जैसे हैं
एक भाषा दोनों के लिए
शब्द भी एक जैसे
स्त्री कहती है कितनी अश्लील है दुनिया
और शहर कि इस दुनिया ने कुचल डाला मुझे
सब तरफ कूड़ा ही कूड़ा
रंग-बदरंग घरों की तरह
जंग खाए टीन की छतों
सूखी घास और गंदी-ठंडी जगहों की तरह
हमारे टूटने की कड़क आवाज़
सुनते हैं मर्द लोग
शर्म से किसी का भी चेहरा तो नहीं झुकता

तो लीजिए
सुंदर हैं यहाँ स्त्रियाँ
आरामगाह शहर में

कोई एक छोर—एक कोना
है आपके लिए भी
माल-रोड पर।

यात्रा

आधी दुनिया को शायद
वह कहती अधूरी दुनिया
समझती उसे अपनी ही तरह
आधी रात के बाद तक
लिखती रही उस पर कविताएँ

अपने बारे में
बिना किसी मुहावरे के
रच रही थी सपने
दर्ज़ करती जाती थी
लंबी एक यात्रा की थकान
किसी आदमी के बारे में भी
उसने व्यक्त किए थे
सहानुभूति के कुछ शब्द

वह कहीं पर भी भयाक्रांत नहीं थी
न कहीं उत्तेजित
जितना भी समझ पाई थी दुनिया को
उन्हें लिखती जाती
भेजती जाती
उस दोस्त को जो शायद
उसकी तरह कहीं भटक रही थी

उसने लिखा
सब सच-सच
इस यात्रा पर
जहाँ पहुँचना बहुत दुर्गम है
यद्यपि सुनने के लिए जहाँ से
सब कुछ आसान है

यात्रा से लौटकर वह
अपने टूटे-फूटे शब्दों को
जोड़ती हुई शक्ल देती है
कभी-कभी जिसके पार
हम भी देख सकते हैं
अपने-अपने चेहरे।

[द्वारा जनसता, चंडीगढ़]

मल्हार : तीन कविताएँ

❑ उषा व्यास

आषाढ़ का अलगोज़ा
अब के फिर भर गया
ज़हदीली टेर से

मन है कि
अमराई की सुवासित छाँह में
पड़े रहने का स्वप्न
पलकों में नहाये
ऊँघता उमगता रहा
पोर-पोर सुलगता रहा

कभी आम, कभी ईख होती देह को
उनींदी कोंपलों के होंठ सहलाती झमा झम
मिट्टी में राग उगाती

दो

पत्तियों की गोद में
फूल के जागने से
टहनी ने पाया
सच होते स्वप्न का दूधिया अहसास

सावन की रिमझिम
इन्द्रधनुष के द्वार न्योत आयी

जल-तरंग का उत्सव
सूरज है कि सुलगता रहा
उसके घर तो सारे किस्से आग के हैं

बूँदें जो भेजती हैं
नेह के सुर्ख डोरे
हल्दी से छींटे हुए न्योते
वे अपने-अपने भाग के हैं

तीन

संतूर बने मौसम में
पतझर से होड़ ले रहे हैं पेड़
घटाओं को याद आया है झूला
हथेलियों को मेंहदी के फूल
पुरवैया को मल्हार
और मुझे तुम्हारा
छुअन भर प्यार

वह एक अकेला आलोकित क्षण
भीगे अँधेरे में
जुगनू पकड़ आँचल की कोर बाँधना
कर गया मुझे आकाश गंगा

[जम्मू-कश्मीर अकादमी, केनाल रोड़ जम्मू (तवी)-180001]

समीक्षा

नारी जीवन का संताप

❑ श्रीनिवास श्रीकान्त

'कनकछड़ी' गत समाज में नारी के अहर्निश सन्ताप की कहानी है। उपन्यास की नायिका इस सन्ताप के एक प्रतीक के रूप में उभर कर सामने आयी है। हालाँकि अब इस स्थिति में काफ़ी बदलाव आ गया है फिर भी इस के अवशेष अब भी ग्रामीण एवं कस्बाती जीवन में पहचाने जा सकते हैं। सभ्य मध्यवर्ग में नारी-शोषण के उपादानों ने अब परोक्ष रूप ग्रहण कर लिया है। पर कथा का उद्देश्य समसामयिक स्थिति की ओर संकेत करना नहीं है। पिछली पीढ़ी के साथ जो कुछ हुआ है वही उपन्यासकार **संतोष शैलजा** का मूल चिन्त्य प्रतीत होता है।

कथा एक-रेखीय रूप में आरम्भ होकर, उसी क्रम में समाप्त हो जाती है तथा समय की एक बहुत बड़ी विडम्बना को हमारे सामने खोल कर रख देती है। गृह-विरह इसका मूल भाव है जो तारा के जीवन सन्दर्भों से अन्तरंगता से जुड़ा है। अतः कथा एक ऐसे वातावरण का निर्माण करती है जो धुंधला, अन्धकारपूर्ण एवं विषण्ण है। मुख्य पात्र की निरानन्दता और उसकी प्रतीति के लिए उपन्यासकार ने आरम्भ में बचपन के जो चित्ताकर्षक चित्र बनाये हैं वे बाद में दुभाग्यपूर्ण स्थितियों में हृदय को न केवल छूते हैं बल्कि पात्र के प्रति पाठक की सहानुभूति भी जगा देते हैं।

तारा की छोटी बहन धन्नो ऐसे माहौल में नारी मुक्ति का एक सशक्त स्वर बन कर उभरी है। वह नारी की इंच-दर-इंच बढ़ती हुई मृत्युमुखी त्रासदी का प्रतिवाद है जो उस समय के टूटते किन्तु रूढ़ समाज में एक मशाल की तरह है। यही वह मशाल है जिसने हमारे आज के समाज में नारी के रुतबे को बेहतर बनाया है। धन्नो के साथ ही जैसे एक संकल्प और एक विकल्प हमें इस उपन्यास में मिल जाता है। अधिकांश पुरुष पात्र पृष्ठ भूमि में रहते हैं, आगे के मंच पर तभी आते हैं जब कथानक में उनकी ज़रूरत होती है। अच्छा होता यदि उपन्यासकार की आँख पुरुष पात्रों का भी प्रत्यक्ष एवं यथास्थिति चित्रण कर पाती। पुरुष पात्रों के अपरोक्ष और कभी-कभी अप्रस्तुत रहने से कथा द्वंद्व से रहित एकांगी बन कर रह जाती है। नारियों में, तारा और धन्नो के अतिरिक्त भाबी (दोनों), कौशल्या, ज्योति आदि के चरित्र मार्मिक बन पड़े हैं और आख्यानगत तनाव को कम करते हैं। तारा के परिवार में उसके माता और पिता की छवियाँ नहीं उभर पायीं हैं। केवल बड़े भाई, कुन्दन और धन्नो के चरित्र ही सामने आते हैं। इन सब की चरित्र भूमिकाएँ हैं जबकि ससुराल वाले सभी पुरुष पात्र द्वैध वृत्ति के हैं। एक बहू के प्रति उनकी भावशून्यता और उदासीनता स्पष्ट है। स्पष्ट है कि ऐसा ह्रासोन्मुख समाज, जो परायी कन्या को अपने परिवार में उचित स्थान नहीं दे पाता अधिक समय तक जीवित नहीं रह